प्रथम संस्करण १०,००० (मार्च, १९७५ ई०)
द्वितीय संस्करण . १०,००० (जून, १९७५ ई०)
तृतीय संस्करण १०,०००
महावीर जयन्ती, १२ अप्रैल, १९७६ ई०

मूल्य एक रुपया

मुद्रक
जयपुर प्रिण्टर्स
एम० आई० रोड
जयपुर

विषय-सूची

प्रकाशकीय

[तृतीय संस्करण]

प्रस्तुत पुस्तक की लोकप्रियता के बारे मे विशेष क्या कहे – इसके दस-दस हजार प्रतियों के दो सस्करण एक वर्ष के भीतर ही समाप्त हो गये हैं तथा दस हजार प्रतियो का ही यह तृतीय सस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत है ।

लेखक की लोकप्रियता के बारे मे भी यहाँ कुछ लिखना अप्रासगिक नही होगा ।

इनकी सुप्रसिद्ध कृति 'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' को ऑल इडिया दि० भगवान महावीर २५०० वा निर्वाण-महोत्सव सोसायटी, मध्यप्रदेश प्रातीय समिति, इन्दौर ने तथा ऑल इडिया दि० भगवान महावीर २५०० वां निर्वाण-महोत्सव सोसायटी, आसाम–बगाल–बिहार–उडीसा प्रातीय समिति, राची ने भी प्रकाशित कराया है। ऑल इडिया दिगम्बर भगवान महावीर २५०० वाँ निर्वाण-महोत्सव सोसायटी, गुजरात प्रदेश ने इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया है। कन्नड व मराठी मे भी इसके अनुवाद छप रहे हैं। गुजरात, मध्यप्रदेश एव बिहार से निकलने वाले धर्मचक्रो ने विक्रय एव भेंट देने हेतु इसे अपने साथ रखा है।

डॉ० भारिल्लजी की एक अन्य लघु कृति 'तीर्थंकर भगवान महावीर' का तो कन्नडी, गुजराती और मराठी के अलावा अंग्रेजी, असमी व तेलगु मे भी अनुवाद हुआ है। तेलगु मे तो इसकी एक लाख पचास हजार प्रतियाँ भगवान महावीर २५०० वाँ निर्वाण-महोत्सव राज्य-स्तरीय समिति, आन्ध्रप्रदेश ने प्रकाशित कराई हैं।

चतुर्थ सस्करण हेतु समुचित सुझावो के साथ,

दिनाक १२ अप्रेल, १९७६ — विनीत

चैतन्य विलास, — **पदमचन्द जैन**

३२०, महात्मा गाधी मार्ग, — अध्यक्ष

आगरा–२ — श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन

प्रकाशकीय

[प्रथम संस्करण]

प्रस्तुत पुस्तक लोकप्रिय आध्यात्मिक लेखक डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के प्रतिनिधि निबन्धों का संकलन है। ये निबन्ध अनेक पत्रों में समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं एव लघु पुस्तिकाओं के रूप में भी सहस्त्रों की सख्या में प्रकाशित हुए हैं।

लेखक के कतिपय निबन्धों को एकत्रित कर पॉकेट बुक के रूप में कम से कम मूल्य में पाठकों को उपलब्ध करने के पावन उद्देश्य से ही इसका प्रकाशन किया जा रहा है।

इसमें जहाँ एक ओर 'मैं कौन हूँ ?', 'सुख क्या है ?', 'आत्मानुभूति और तत्त्वविचार' जैसे आध्यात्मिक निबन्ध सकलित हैं, वहाँ दूसरी ओर 'अहिंसा', 'अनेकान्त और स्याद्वाद' जैसे सैद्धान्तिक निबन्ध भी दिये हैं। साथ ही 'भगवान महावीर' जैसे जीवनी-प्रधान तथा 'व्यावहारिक जीवन में महावीर के आदर्श' जैसे विचारात्मक निबन्ध भी प्रस्तुत किए हैं।

जहाँ आध्यात्मिक निबन्धों में भावात्मक प्रवाह एवं अनुभूति लेखनी से उतर आई है, वहाँ सैद्धान्तिक निबन्धों में शैली तर्क-प्रधान हो गई है। साथ में समुचित आगम प्रमाण भी प्रस्तुत किये गये हैं। जीवनी-प्रधान निबन्धों में कथा-प्रवाह में औपन्यासिक रोचकता पाई जाती है।

मेरी दृष्टि में ये निबन्ध प्रतिपादित विषय और शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत सकलन से आध्यात्मिक और साहित्यिक दोनों ही रुचि के पाठकगण लाभान्वित होंगे।

दिनांक [illegible] — विनीत

[illegible] — पदमचन्द जैन

[illegible] — [illegible]

सुख क्या है ?

यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि सभी जीव सुख चाहते है और दु ख से डरते है। पर प्रश्न तो यह है कि वास्तविक सुख है क्या ? वस्तुत सुख कहते किसे है ? सुख का वास्तविक स्वरूप समझे विना मात्र सुख चाहने का कोई अर्थ नही।

प्राय सामान्य जन भोग-सामग्री को सुख-सामग्री मानते है और उसकी प्राप्ति को ही सुख की प्राप्ति समझते है, अत उनका प्रयत्न भी उसी ओर रहता है। उनकी दृष्टि मे सुख कैसे प्राप्त किया जाय का अर्थ होता है 'भोग-सामग्री कैसे प्राप्त की जावे ?'। उनके हृदय मे 'सुख क्या है ?' इस तरह का प्रश्न ही नही उठता, क्योकि उनका अतर्मन यह माने वैठा है कि भोगमय जीवन ही सुखमय जीवन है। अत जब-जब सुख-समृद्धि की चर्चा आती है तो यही कहा जाता है कि प्रेम से रहो, मेहनत करो, अधिक अन्न उपजाओ, औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति करो–इससे देश मे समृद्धि आवेगी और सभी सुखी हो जावेगे। आदर्शमय वाते कही जाती हैं कि एक दिन वह होगा जव प्रत्येक मानव के पास खाने के लिए पौष्टिक भोजन, पहिनने को ऋतुओ के अनुकूल उत्तम वस्त्र और रहने को वैज्ञानिक सुविधाओ से युक्त आधुनिक वगला होगा, तव सभी सुखी हो जावेगे।

हम इस पर बहस नही करना चाहते है कि यह सब कुछ होगा या नही, पर हमारा प्रश्न तो यह है कि यह सब कुछ हो जाने पर भी क्या जीवन सुखी हो जावेगा ? यदि हाँ, तो जिनके पास यह सब कुछ है वे तो आज भी सुखी होगे ? या जो देश इस समृद्धि की सीमा को छू रहे है वहाँ तो सभी सुखी और शान्त होगे ? पर देखा यह जा रहा है कि सभी आकुल-व्याकुल और अशान्त है, भयाकुल और चिन्तातुर है, अत 'सुख क्या है ?' इस विषय पर गभीरता से सोचा जाना चाहिए। 'वास्तविक सुख क्या है और वह कहाँ है ?' इसका निर्णय किये बिना इस दिशा मे सच्चा पुरुषार्थ नही किया जा सकता और न ही सच्चा सुख प्राप्त किया जा सकता है।

कुछ मनीषी इससे आगे बढते हैं और कहते है – "भाई, वस्तु (भोग-सामग्री) मे सुख नही है, सुख-दुख तो कल्पना मे है। वे अपनी बात सिद्ध करने को उदाहरण भी देते हैं कि एक आदमी का मकान दो मजिल का है, पर उसके दाहिनी ओर पाच मजिला मकान है तथा बायी ओर एक झोपडी है। जब वह दायी ओर देखता है तो अपने को दुखी अनुभव करता है और जब बायी ओर देखता है तो सुखी, अत सुख-दुख भोग-सामग्री मे न होकर कल्पना मे है। वे मनीषी सलाह देते है कि यदि सुखी होना है तो अपने से कम भोग-सामग्री वालो की ओर देखो, सुखी हो जाओगे। यदि तुम्हारी दृष्टि अपने से अधिक वैभव वालो की ओर रही तो सदा दुख का अनुभव करोगे।"

सुख तो कल्पना मे है, सुख पाना हो तो झोपडी की तरफ देखो, अपने से दीन-हीनो की तरफ देखो, यह कहना असगत है; क्योकि दुखियो को देखकर तो लौकिक सज्जन भी दयार्द्र हो जाते है। दुखियो को देखकर ऐसी कल्पना करके अपने को सुखी मानना कि मैं इनसे अच्छा हूँ, उनके दु ख के प्रति अकरुण भाव तो है ही, साथ ही मान कषाय की पुष्टि मे सतुष्टि की स्थिति भी है। इसे सुख कभी नही कहा जा सकता। सुख क्या झोपडी मे भरा है जो उसकी ओर देखने से आ जावेगा ? जहाँ सुख है, जब तक उसकी ओर दृष्टि नही जावेगी, तब तक सच्चा सुख प्राप्त नही होगा।

सुखी होने का यह उपाय भी सही नही है, क्योकि यहाँ 'सुख क्या है ?' इसे समझने का यत्न नही किया गया है वरन् भोगजनित सुख को ही सुख मानकर सोचा गया है। 'सुख कहाँ है ?' का उत्तर 'कल्पना मे है' दिया गया है। 'सुख कल्पना मे है' का अर्थ यदि यह लिया जाय कि सुख काल्पनिक है, वास्तविक नही – तो क्या यह माना जाय कि सुख की वास्तविक सत्ता है ही नही – पर यह बात सभवत. आपको भी स्वीकृत नही होगी। अत॰ स्पष्ट है कि भोग-प्राप्ति वाला सुख जिसे इन्द्रिय-सुख कहते हैं – काल्पनिक है तथा वास्तविक सुख इससे भिन्न है। वह सच्चा सुख क्या है ? मूल प्रश्न तो यह है।

कुछ लोग कहते हैं कि तुम यह करो, वह करो, तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी, तुम्हे इच्छित वस्तु की प्राप्ति होगी और तुम सुखी हो जाओगे। ऐसा कहने

वाले इच्छाग्रो की पूर्त्ति को ही सुख ग्रौर इच्छाग्रो की पूर्त्ति न होने को ही दु ख मानते है।

एक तो इच्छाग्रो की पूर्त्ति सभव ही नही है। कारण कि ग्रनन्त जीवो मे प्रत्येक की इच्छाएँ ग्रनन्त है ग्रौर भोग सामग्री सीमित, तथा एक इच्छा की पूर्त्ति होते ही तत्काल दूसरी नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार कभी समाप्त न होने वाला इच्छाग्रो का प्रपातवत् प्रवाहक्रम चलता ही रहता है। ग्रत यह तो निश्चित है कि नित्य बदलती हुई नवीन इच्छाग्रो की पूर्त्ति कभी सभव नही है। ग्रत तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी, इच्छाएँ पूर्ण होगी, ग्रौर तुम सुखी हो जावोगे, ऐसी कल्पनाएँ मात्र मृग-मरीचिका ही सिद्ध होती है। न तो कभी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूर्ण होने वाली है ग्रौर न ही यह जीव इच्छाग्रो की पूर्त्ति से सुखी होने वाला है।

वस्तुत तो इच्छाग्रो की पूर्त्ति मे सुख है ही नही, यह तो सिर का बोझ कन्धे पर रखकर सुख मानने जैसा है। यदि कोई कहे जितनी इच्छाए पूर्ण होगी उतना तो सुख होगा ही, पूरा न सही, यह बात भी ठीक नही है, कारण कि सच्चा सुख तो इच्छाग्रो के ग्रभाव मे है, इच्छाग्रो की पूर्त्ति मे नही, क्योकि हम इच्छाग्रो की कमी (ग्राशिक ग्रभाव) मे ग्राकुलता की कमी प्रत्यक्ष ग्रनुभव करते है। ग्रत यह सहज ही ग्रनुमान किया जा सकता है कि इच्छाग्रो के पूर्ण ग्रभाव मे पूर्ण सुख होगा ही। यदि यह कहा जाय कि इच्छा पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है, ग्रत

उसे सुख कहना चाहिए, यह कहना भी गलत है, क्योकि इच्छाओ के अभाव का अर्थ इच्छाओ की पूर्त्ति होना नही, वरन् इच्छाओ का उत्पन्न ही नही होना है।

भोग-सामग्री से प्राप्त होने वाला सुख वास्तविक सुख है ही नही, वह तो दु ख का ही तारतम्यरूप भेद है। आकुलतामय होने से वह दुःख ही है। सुख का स्वभाव तो निराकुलता है और इन्द्रियसुख मे निराकुलता पाई नही जाती है। जो इन्द्रियो द्वारा भोगने मे आता है वह विषय सुख है, वह वस्तुत दु ख का ही एक भेद है। उसका तो मात्र नाम ही सुख है। अतीन्द्रिय आनन्द इन्द्रियातीत होने से उसे इन्द्रियो द्वारा नही भोगा जा सकता। जैसे आत्मा अतीन्द्रिय होने से इन्द्रियो द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता उसी प्रकार अतीन्द्रिय सुख आत्मामय होने से इन्द्रियो द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता।

जो वस्तु जहाँ होती है, उसे वहाँ ही पाया जा सकता है। जो वस्तु जहाँ हो ही नही, जिसकी सत्ता की जहाँ सभावना ही न हो, उसे वहाँ कैसे पाया जा सकता है? जैसे 'ज्ञान' आत्मा का एक गुण है, अत ज्ञान की प्राप्ति चेतनात्मा मे ही सभव है, जड़ मे नही, उसी प्रकार 'सुख' भी आत्मा का एक गुण है, जड़ का नही, अत सुख की प्राप्ति आत्मा मे ही होगी, शरीरादि जड़ पदार्थों मे नही। जिस प्रकार यह आत्मा स्वय को न जान कर अज्ञान (मिथ्या ज्ञान) रूप परिणमित हो रहा है, उसी प्रकार यह जीव स्वयं सुख की आशा से पर-पदार्थों की ओर ही प्रयत्नशील है व यही इसके दुःख का मूल कारण है। इसकी सुख की खोज की

दिशा ही गलत है। दिशा गलत है, अत दशा भी गलत (दु ख रूप) होगी ही। सच्चा सुख पाने के लिए हमे परोन्मुखी दृष्टि छोड़कर स्वय को (आत्मा को) देखना होगा, स्वय को जानना होगा, क्योकि अपना सुख अपनी आत्मा मे है। आत्मा अनत आनद का कद है, आनन्दमय है। अत: सुख चाहने वालो को आत्मोन्मुखी होना चाहिए। परोन्मुखी दृष्टि वाले को सच्चा सुख कभी प्राप्त नही हो सकता।

सच्चा सुख तो आत्मा द्वारा अनुभव की वस्तु है, कहने की नही, दिखाने की भी नही। समस्त पर-पदार्थों पर से दृष्टि हटाकर अन्तर्मुख होकर अपने ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा मे तन्मय होने पर ही वह प्राप्त किया जा सकता है। चू कि आत्मा सुखमय है, अत आत्मानुभूति ही सुखानुभूति है। जिस प्रकार बिना अनुभूति के आत्मा प्राप्त नही किया जा सकता, उसी प्रकार बिना आत्मानुभूति के सच्चा सुख भी प्राप्त नही किया जा सकता।

गहराई मे विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि आत्मा को सुख कही से प्राप्त नही करना है क्योकि वह सुख से ही बना है, सुखमय ही है, सुख ही है। जो स्वय सुख-स्वरूप हो उसे सुख क्या पाना ? सुख पाने की नही, भोगने की वस्तु है, अनुभव करने की चीज है। सुख के लिए तड़पना क्या ? सुख मे तड़पन नही है, तड़पन मे सुख का अभाव है, तड़पन स्वय दु ख है, तड़पन का अभाव ही सुख है। इसी प्रकार सुख की क्या चाहना ? चाह स्वय दु खरूप है, चाह का अभाव ही सुख है।

'सुख क्या है ?', 'सुख कहाँ है ?', 'वह कैसे प्राप्त होगा ?' इन सब प्रश्नो का एक ही उत्तर है, एक ही समाधान है, और वह है आत्मानुभूति। उस आत्मानुभूति को प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्वविचार है। पर ध्यान रहे वह आत्मानुभूति अपनी प्रारम्भिक भूमिका–तत्त्वविचार का भी अभाव करके उत्पन्न होती है। 'मै कौन हूँ ?', 'आत्मा क्या है ?', और 'आत्मानुभूति कैसे प्राप्त होती है ?' ये पृथक् विषय हैं, अत इन पर पृथक् से विवेचन अपेक्षित है।

पर-पदार्थों मे लगा हुआ वर्त्तमान प्रकट ज्ञान का प्रत्येक कण गर्म तवे या रेगिस्तान मे पड़े हुए जल-बिन्दु के समान या तो जल जाता है या सूख जाता है, विकल्पात्मक आत्म-चिन्तन मे लगा हुआ ज्ञानकण कमलपत्र पर पड़े हुए जल-बिन्दु के समान मोती के समान चमकता है, किन्तु आत्मा मे लगा हुआ ज्ञानांश नदी की धारा के समान निरन्तर विस्तार को प्राप्त होता हुआ ज्ञान-सागर बन जाता है, अर्थात् पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

होने के पहिले भारतीय है, यह क्यो भूल जाते है ? उसी प्रकार मेरा कहना है कि 'मैं सेठ हूँ, मै पण्डित हूँ, मैं बालक हूँ, मै वृद्ध हूँ' के कोलाहल मे 'मै आत्मा हूँ' को हम क्यो भूल जाते है ?

जैसे भारत देश की अखण्डता अक्षुण्ण रखने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक भारतीय मे 'मैं भारतीय हूँ' यह अनुभूति प्रबल होनी चाहिए, भारतीय एकता के लिए उक्त अनुभूति ही एकमात्र सच्चा उपाय है, उसी प्रकार 'मैं कौन हूँ ?' का सही उत्तर पाने के लिए 'मैं आत्मा हूँ' की अनुभूति प्रबल हो, यह अति आवश्यक है।

हाँ ! तो स्त्री, पुत्र, मकान, रुपया, पैसा यहाँ तक कि शरीर से भी भिन्न 'मैं' तो एक चेतनतत्त्व आत्मा हूँ। आत्मा मे उठने वाले मोह-राग-द्वेष भाव भी क्षणस्थायी विकारी भाव होने से आत्मा की सीमा मे नही आते तथा परलक्षी ज्ञान का अल्पविकास भी परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी आत्मा का अवबोध कराने मे समर्थ नही है। यहाँ तक कि ज्ञान की पूर्ण विकसित अवस्था (केवलज्ञान) भी अनादि नही होने से अनादि-अनन्त पूर्ण एक ज्ञानस्वभावी आत्मा नही हो सकता है। आत्मा तो एक द्रव्य है और वह आत्मा के ज्ञान गुण की पूर्ण विकसित एक पर्याय मात्र है।

'मैं' का वाच्यार्थ 'आत्मा' तो अनादि-अनन्त अविनाशी त्रैकालिक तत्त्व है। जब तक इस ज्ञानस्वभावी अविनाशी आत्मतत्त्व मे अहंबुद्धि (यही 'मैं हूँ' ऐसी मान्यता) नही आती तब तक 'मैं कौन हूँ ?' यह प्रश्न भी अनुत्तरित ही रहेगा।

'मैं' के द्वारा जिस आत्मा का कथन किया जाता है, वह आत्मा अन्तरोन्मुखी दृष्टि का विषय है, अनुभवगम्य है, बहिर्लक्षी दौडधूप से वह प्राप्त नही किया जा सकता है। वह स्वसवेद्य तत्त्व है, अतः उसे मानसिक विकल्पों मे नही बाधा जा सकता है। उसे इन्द्रियो द्वारा भी उपलब्ध नही किया जा सकता क्योकि इन्द्रियाँ तो मात्र स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्द की ग्राहक हैं, अतः वे तो केवल स्पर्श, रस, गध, वर्ण वाले जडतत्त्व को ही जानने मे निमित्त मात्र हैं। वे इन्द्रियाँ अरस, अरूपी आत्मा को जानने मे एक तरह से निमित्त भी नही हो सकती हैं।

यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिंड और आनन्द का कद है। रूप, रस, गध, स्पर्श और मोह-राग-द्वेष आदि सर्व पर-भावो से भिन्न, सर्वांग परिपूर्ण शुद्ध है। समस्त पर-भावो से भिन्नता और ज्ञानादिमय भावो से अभिन्नता ही इसकी शुद्धता है। यह एक है, अनन्त गुणो की अखण्डता ही इसकी एकता है। ऐसा यह आत्मा मात्र आत्मा है और कुछ नही है, यानी 'मैं' मैं ही हूँ, और कुछ नही। 'मैं' मैं ही हूँ और अपने में ही सब कुछ हूँ। पर को देने लायक मुझ मे कुछ नही है तथा अपने मे परिपूर्ण होने से पर के सहयोग की मुझे कोई आवश्यकता नही है। यह आत्मा वाग्विलास और शब्दजाल से परे है, मात्र अनुभूति-गम्य है। उसको प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्व-विचार है, पर यह आत्मानुभूति आत्मतत्त्व सम्बन्धी विकल्प का भी अभाव करके प्रकट होने वाली स्थिति है।

'मै कौन हूँ ?'' यह जानने की वस्तु है, यह अनुभूति द्वारा प्राप्त होने वाला समाधान (उत्तर) है। यह वाणी द्वारा व्यक्त करने और लेखनी द्वारा लिखने की वस्तु नही है। वाणी और लेखनी की इस सन्दर्भ मे मात्र इतनी ही उपयोगिता है कि ये उसकी ओर सकेत कर सकती है। ये दिशा इगित कर सकती है, दशा नही ला सकती है।

सर्वप्रथम हमे अपने अज्ञान का ज्ञान करना है, क्योकि आत्मा-सम्बन्धी अज्ञान की स्वीकृति बिना हम आत्मा को समझने के लिए तैयार ही नही होगे।

आत्मानुभूति और तत्त्वविचार

'सुख क्या है ?' और 'मैं कौन हूँ ?' इन प्रश्नो का सही उत्तर प्राप्त करने का एक मात्र उपाय आत्मानुभूति है तथा आत्मानुभूति प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्वविचार है। पर आत्मानुभूति अपनी प्रारम्भिक भूमिका तत्त्वविचार का भी अभाव करती हुई उदित होती है क्योकि तत्त्वविचार विकल्पात्मक है और आत्मा निर्विकल्पक स्वसवेद्य तत्त्व है। निर्विकल्पक तत्त्व की अनुभूति विकल्पो द्वारा नही की जा सकती है। उक्त तथ्य 'सुख क्या है ?' और 'मैं कौन हूँ ?' नामक निबन्धों मे स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ तो विचारणीय प्रश्न यह है कि आत्मानुभूति की दशा क्या है और तत्त्वविचार किसे कहना ?

अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का नाम ही आत्मानुभूति है। वर्तमान प्रगट ज्ञान को पर-लक्ष्य से हटा कर स्वद्रव्य (त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व) मे लगा देना ही आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। वह ज्ञानतत्त्व से निर्मित होने से, ज्ञानतत्त्व की ग्राहक होने से और सम्यग्ज्ञान-परिणति की उत्पादक होने से ज्ञानमय है। अत· वह

आत्मानुभूति ज्ञायक, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञप्ति रूप होकर भी इनके भेद से रहित अभेद और अखण्ड है। तात्पर्य यह है कि जानने वाला भी स्वय आत्मा है और जानने मे आने वाला भी स्वय आत्मा ही है तथा ज्ञानपरिणति भी आत्मामय हो रही है।

यह ज्ञानमय दशा आनन्दमय भी है, यह ज्ञानानन्दमय है। इसमे ज्ञान और आनन्द का भेद नही है। यह ज्ञान भी इन्द्रियातीत है और आनन्द भी इन्द्रियातीत। यह अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द की दशा ही धर्म है। अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्त्व पर सम्पूर्ण प्रगट ज्ञानशक्ति का केन्द्रीभूत हो जाना धर्म की दशा है। अतः एक मात्र वही ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्त्व ध्येय है, साध्य है, और आराध्य है, तथा मुक्ति के पथिक तत्त्वाभिलाषी को समस्त जगत् अध्येय, असाध्य, और अनाराध्य है।

यह चैतन्यभाव रूप आत्मानुभूति ही करने योग्य कार्य (कर्म) है, पर की किसी भी प्रकार की अपेक्षा बिना चेतन आत्मा ही इसका कर्त्ता है और यही धर्मपरिणति रूप ज्ञान-चेतना सम्यक् क्रिया है। इसमे कर्त्ता, कर्म और क्रिया का भेद कथनमात्र है, वैसे तो तीनो ही ज्ञानमय होने से अभिन्न (अभेद) ही हैं।

धर्म का आरम्भ भी आत्मानुभूति से ही होता है और पूर्णता भी इसी की पूर्णता से। इससे पूर्व धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति ही आत्मधर्म है। साधक के लिए एक मात्र यही इष्ट है। इसे प्राप्त करना ही साधक का मूल प्रयोजन है।

उक्त प्रयोजन की सिद्धि हेतु जिन वास्तविकताओं की जानकारी आवश्यक है, उन्हे प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं तथा उनके सम्बन्ध मे किया गया विकल्पात्मक प्रयत्न ही तत्त्वविचार कहलाता है।

'मैं कौन हूँ ?' (जीव तत्त्व), पूर्ण सुख क्या है ?' (मोक्ष तत्त्व), इस वैचारिक प्रक्रिया के मूलभूत प्रश्न हैं। मैं सुख कैसे प्राप्त करूँ अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय-आनन्द की दशा को कैसे प्राप्त हो ? जीव तत्त्व मोक्ष तत्त्वरूप किस प्रकार परिणमित हो ? आत्माभिलाषी मुमुक्षु के मानस मे निरन्तर यही मथन चलता रहता है।

वह विचारता है कि चेतन तत्त्व से भिन्न जड तत्त्व की सत्ता भी लोक मे है। आत्मा में अपनी भूल से मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तथा शुभाशुभ भावो की परिणति मे ही यह आत्मा उलझा (बंधा) हुआ है। जब तक आत्मा अपने स्वभाव को पहिचान कर आत्मनिष्ठ नही हो जाता तब तक मुख्यत: मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही रहेगी। इनकी उत्पत्ति रुके, इसका एक मात्र उपाय उपलब्ध ज्ञान का आत्म-केन्द्रित हो जाना है। इसी से शुभाशुभ भावो का अभाव होकर वीतराग भाव उत्पन्न होगा और एक समय वह होगा कि समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर आत्मा वीतराग-परिणति रूप परिणत हो जायगा। दूसरे शब्दो मे पूर्ण ज्ञानानन्दमय पर्याय रूप परिणमित हो जायेगा।

उक्त वैचारिक प्रक्रिया ही तत्त्वविचार की श्रेणी है। स्वानुभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया निरन्तर तत्त्वमथन की

है, उसके पल्ले मात्र व्यग्रता ही पडती है, उसे साध्य की सिद्धि प्राप्त नही हो सकती। अत. आत्मानुभव के अभिलाषी मुमुक्षुओ को पर के सहयोग की कल्पना मे आकुलित नही रहना चाहिए।

शुभाशुभ विकल्पो के टूटने की प्रक्रिया और क्रम क्या है ? तथा पर-निरपेक्ष आत्मानुभूति के मार्ग के पथिक की अतरग व वहिरग दशा कैसी होती है ? ये अपने आप मे विस्तृत विषय हैं। इन पर पृथक् से विवेचन अपेक्षित है।

स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद आदि की उपस्थिति आत्मज्ञान मे बाधक नही है। इनकी उपस्थिति मे आत्मज्ञान हो जाता है, पर जब तक ज्ञान पर को ज्ञेय बनाता रहेगा, तब तक आत्मज्ञान सम्भव नही है। ज्ञान (आत्मा) का ज्ञान करने के लिए ज्ञान (प्रगट ज्ञान पर्याय) को ज्ञान (आत्मा) मे लगाना होगा।

आत्मानुभूति : प्रक्रिया और क्रम

अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का नाम आत्मानुभूति है तथा वर्तमान प्रगट ज्ञान को परलक्ष्य से हटाकर स्वद्रव्य (त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व) मे लगा देना ही आत्मानुभूति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है । इसके पूर्व तत्त्वविचार सम्बन्धी वैचारिक (विकल्पात्मक) प्रक्रिया चलती है। उक्त वैचारिक प्रक्रिया की श्रेणियो को पार करती हुई वर्तमान प्रगट ज्ञानशक्ति उस वैचारिक प्रक्रिया का भी अभाव करती हुई आत्मोन्मुखी होती है। अत. स्वभाव-ग्रहण की प्रक्रिया तत्त्वमंथनपूर्वक अशुभ-शुभ विकल्पो का अभाव करती हुई स्व को ग्रहण करती है। उक्त तथ्य पूर्व निबन्धो मे स्पष्ट किया जा चुका है।

यहाँ तो मुख्यत· विचार का विषय यह है कि तत्त्व-मथनपूर्वक शुभाशुभ विकल्पो के अभावपूर्वक आत्मानुभूति प्राप्त करने का वास्तविक मार्ग क्या है ?

वैसे तो निरन्तर आत्मा मे पर-लक्षी वैचारिक प्रक्रिया चला ही करती है। एक भी समय ऐसा नही जाता जब मनसहित प्राणी कुछ न कुछ विचार न करता रहता हो। इसके साथ ही मोह-राग-द्वेष की वृत्ति के कारण पर-पदार्थों मे इष्ट-अनिष्ट कल्पनाएँ भी चला करती हैं। अतः यह

जीव कभी किसी का भला करने की सोचता रहता है और कभी किसी का बुरा करने की सोचा करता है। दूसरे का भला-बुरा करना इसके हाथ की बात नही है। अतः इसके दोनो विकल्प असत् के आश्रय से उत्पन्न होने के कारण अशुद्ध हैं क्योकि शुद्धता की उत्पत्ति सत् के आश्रय से होती है।

हम दूसरे का भला-बुरा कर सकते है या नही, यह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है। इस पर अलग से विचार करेंगे।

अशुद्ध भावो को शुभ और अशुभ इन दो भागो मे बांटा जाता है। इसे हम इस तरह स्पष्ट कर सकते हैं कि भाव दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध और अशुद्ध; तथा अशुद्ध भाव भी दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ। इस तरह भाव तीन प्रकार के हुए—शुद्ध, शुभ और अशुभ। पर ध्यान रहे शुभ और अशुभ यह दोनो अशुद्ध भावो के ही अवान्तर भेद है।

दया, दान, पूजा, भक्ति, तत्त्वविचार आदि के भाव शुभ भाव हैं और पचेन्द्रियो के विषय एव हिंसादि पांच पाप आदि के भाव अशुभ भाव। अपने उपयोग को पर से समेट कर अपने मे लीन हो जाना ही शुद्ध भाव है। भूमिकानुसार राग व रागांश का अभाव होने से इसे वीतराग भाव भी कहते हैं। शुभाशुभ भावो को राग भाव कहते हैं और शुभाशुभ भावो के अभाव रूप भाव को वीतराग भाव कहते हैं।

आत्मानुभूति की दशा शुद्ध भाव है और आत्मानुभूति प्राप्त करने का विकल्प शुभ भाव। आत्मानुभूति प्राप्त करने के विकल्प अशुभ भावो के अभावपूर्वक ही आते हैं। आत्मानुभूति की प्राप्ति के प्रयत्न के काल मे हिंसादि और भोगादि के विकल्प बने रहे, यह सभव ही नही। उस काल मे तो बहुत से शुभ विकल्प भी प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं; विशेषकर वे शुभ विकल्प जो आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न न होकर पर के लक्ष्य से उत्पन्न होते है।

शुभ भाव भी कई प्रकार के होते है। आत्मखोज सम्बन्धी विकल्प भी शुभ भावो मे आते हैं और दीन-दुखियो की सहायता करने के भाव, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि के भाव भी शुभ भावो मे आते हैं। तत्त्वविचार की श्रेणी मे आत्मखोज सम्बन्धी शुभ भाव ही आते है, अन्य नही। उनका वर्गीकरण सात या नौ तत्त्वो के रूप मे किया जाता है। वैसे आत्मचिन्तन सम्बन्धी विकल्पो के भी असख्य भेद हैं, जिन्हे शब्दो मे नही बाधा जा सकता है।

उक्त कथन भी नास्ति की अपेक्षा से है। आत्मानुभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया सद्भावात्मक है, अभावात्मक नही स्थिति यह है कि जिस प्रकार गुमशुदा व्यक्ति की तलाश के लिए पुलिस उसकी बाहरी रूपरेखा (हुलिया) उसको प्रत्यक्ष देखने वाले व्यक्ति के कथन के आधार पर लिख लेती है और उसके आधार पर उसकी खोज की जाती है, तथा जिस प्रकार वैज्ञानिक नई खोज करने के पूर्व एक परिकल्पना करते है और उसके आधार पर अपनी खोज आरंभ करते हैं, उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार करने वाले वीतरागी

सर्वज्ञ महापुरुषो के कथनानुसार आत्मसम्बन्धी विकल्पात्मक आधार लेकर मुमुक्षु आत्मानुभूति की दिशा की ओर अग्रसर होते है।

वैज्ञानिक कल्पना और आत्मिक कल्पना मे इतना अन्तर है कि वैज्ञानिक कल्पना का आधार मात्र बौद्धिक है, अत वह गलत भी सिद्ध हो सकती है, पर आत्मिक कल्पना बौद्धिक होने के साथ ही शास्त्राधार पर निर्मित होती है, अत उसके गलत होने का प्रश्न ही नही उठता। पर जब तक हमे आत्मानुभूति नही हो जाती तब तक वह श्रद्धा सम्यक्-श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) नही।

यद्यपि वह श्रद्धा आत्मानुभूति प्राप्त पुरुष की भाँति नही है तथापि उसमे विकल्पात्मक दृढता की कमी नही है। इसके बिना वृत्ति का अन्तरोन्मुखी होना सभव नही है। यह एक ऐसी दशा है जिसे सम्यक् श्रद्धा की दशा तो कहा नही जा सकता क्योकि उसमे प्रत्यक्ष आत्मदर्शन का अभाव है, यह विकल्पात्मक है। सम्यक् न होने पर भी वह पूर्णत. अविश्वसनीय भी नही है। यदि उक्त सविकल्प श्रद्धा अविश्वसनीय हो तो फिर उसके आधार पर आत्मखोज सम्बन्धी कार्य नही चलाया जा सकता और यदि उसे पूर्ण श्रद्धा स्वीकार कर ली जावे तो फिर खोज अर्थात् आत्मानुभूति प्राप्त करने की दिशा मे बढने की आवश्यकता ही नही रहती। अत उसे वास्तविक श्रद्धा स्वीकार न करते हुए भी अश्रद्धा न कहकर व्यवहार श्रद्धा कहा जाता है। किन्तु यह व्यवहार श्रद्धा भी उपचार से है क्योकि सच्ची व्यवहार श्रद्धा तो निश्चय श्रद्धा के साथ ही होती

है। आत्मानुभूति (निश्चय) पूर्वक, शास्त्राधार पर एवं तर्कसम्मत श्रद्धा ही सच्ची व्यवहार श्रद्धा है।

आत्मानुभूति-प्राप्ति के लिए सन्नद्ध पुरुष प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन मे आत्मा का विकल्पात्मक सम्यक् निर्णय करता है। तत्पश्चात् आत्मा की प्रकट-प्रसिद्धि के लिए, पर-प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियो से मतिज्ञानतत्त्व को समेट कर आत्माभिमुख करता है तथा अनेक प्रकार के पक्षो का अवलम्बन करने वाले विकल्पो से आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी गौण कर उसे भी आत्माभिमुख करता हुआ विकल्पानुभवो को पार कर स्वानुभव दशा को प्राप्त हो जाता है।

आत्मानुभूति प्राप्त आत्मा की अतरग और वाह्य दशा कैसी होती है इसे अगले निवंध मे स्पष्ट करेंगे।

धर्म परिभाषा नही, प्रयोग है। अत आत्मार्थी को धर्म को शब्दो मे रटने के बजाय जीवन मे उतारना चाहिये, धर्ममय हो जाना चाहिये।

एक साथ आकर गिरने पर भी आन्दोलित नही होता, उसी प्रकार इष्ट-अनिष्ट लगने वाले जगत के अनेको परिवर्तन भी ज्ञानी आत्मा को आन्दोलित नही कर पाते। तथा जिस प्रकार समुद्र अपनी मर्यादा को नही उलाघता, उसी प्रकार वे भी अपनी ज्ञान-स्वभाव की सीमा का कभी उल्लघन नही करते।

असीम निशकता, भोगो के प्रति अनासक्ति, समस्त पदार्थों की विकृत-अविकृत दशाओ मे समता भाव, वस्तु-स्वरूप की पैनी पकड, पर के दोषो के प्रति उपेक्षा भाव, आत्मशुद्धि की वृद्धिगत दशा, विश्वासो की दृढता, परिणामो की स्थिरता, गुण और गुणियो मे अनुराग, आत्मलीनता द्वारा अपनी और उपदेशादि द्वारा वस्तुतत्त्व की प्रभावना उनकी अपनी विशेषताएं है।

उनका चित्त चन्दन के समान शीतल (शान्त) हो जाता है। उनमे दीनता नही रहती, वे विषय के भिखारी नही होते। वे अपने लक्ष्य (आत्मा) को प्राप्त कर लेने मे सच्चे लक्षपति (लखपति) होते है। साथ ही उनके हृदय मे पूर्ण आत्म-स्वभाव को प्राप्त करने वाले सर्वज्ञ वीतरागियो के प्रति अनन्त भक्ति का भाव रहता है।

जैसे गृहस्थो के बच्चे उनके मकान के सामने से गुजरने वाले मार्ग मे खेला करते है, उसी प्रकार ये जिनेश्वर के लघुनन्दन मुक्ति-मार्ग मे खेला करते है। तात्पर्य यह है कि उनकी धर्मपरिणति स्वाभाविक और सहज होती है, उन्हे

खीचतान कर उसे नही करना पड़ता, वह उन्हे बोझ रूप नही होती।

यद्यपि राग-द्वेष की तीव्रता के काल मे उनके बाहर तीव्र क्रोधादिक रूप परिणति भी देखने मे आवे, वे भोगों मे प्रवर्त्त होते हुए भी दिखाई दे, भयकर युद्ध मे सिह से गर्जते प्रवर्त्त हो, तथापि उनकी श्रद्धा मे पर के कर्त्तृत्व का अहंकार नही होता। पर से पृथक्त्व एव उसके अकर्त्तृत्व की श्रद्धा सदा विद्यमान रहती है। उनकी प्रवृत्ति धाय के समान होती है। जिस प्रकार धाय अन्य के बालक का पालन-पोषण भी अपने बालकवत् ही करती है परन्तु उसके अतर मे यह श्रद्धा सदा ही बनी रहती है कि यह बालक मेरा नही है तथा एक समय भी वह इस बात को भूल नही पाती; उसी प्रकार ज्ञानी जन जगत के कार्यों में प्रवृत्त दिखाई देने पर भी उन्हे पर से एकत्व नही व्यापता है।

जिस प्रकार अनेक गृह-कार्यों को करते हुए एव सखीजन से अनेक प्रकार चर्चा करते हुए भी महिला का मन पति के ऊपर ही लगा रहता है, वह उसे भूल नही पाती; उसी प्रकार आत्मानुभवी आत्माएँ भी जगत के क्रिया-कलापों मे व्यस्त रहते दिखाई देने पर भी आत्म-विस्मृत नही होती। उनकी आत्म-जागृति लब्धिरूप से सदा बनी रहती है।

जिस प्रकार सेठ के कार्य में प्रवृत्त मुनीम का समस्त बाह्य व्यवहार सेठ के समान ही होता है, वह इस प्रकार की चर्चा व चिन्ता करता भी देखा जाता है कि 'हमे अपना

माल बेचना है, अधिक भाव उतर जावेंगे तो हमे बहुत नुकसान होगा।' हर्ष-विषाद को भी प्राप्त होता देखा जाता है, किन्तु अन्तर मे सेठ से अपने पृथक्त्व को कभी भी भूलता नही है। वह अच्छी तरह जानता है कि मुझे कैसा नुकसान और क्या लाभ ? लाभ-हानि तो सेठजी की है, उसी प्रकार ज्ञानियो के बाह्य कार्यों मे एकाकार दिखने पर भी अन्तर में विद्यमान पृथक्ता उन्हे जल से भिन्न कमल, एवं कर्दम में पड़े निर्मल कंचन के समान ही रखती है। भोगादि प्रवृत्ति के समान देहाश्रित व्रत-समय क्रियाओ मे भी उनका अपनत्व नही होता।

ज्ञानी गृहस्थ की दशा बड़ी ही विचित्र होती है। वह न तो भोगों को अज्ञानियो के समान भोगता ही है, क्योंकि उसे भोग की रुचि न होकर आत्मानन्द की रुचि है, और न वह अपनी कमजोरी के कारण उन्हे त्याग ही पाता है। यदि पूर्ण त्याग दे तो फिर गृहस्थ न रहकर साधु हो जायगा। अतः उसकी दशा एक तरह से न भोगने रूप ही है और न त्यागने रूप ही।

उसकी दशा तो उस कंजूस व्यक्ति के समान है जो सब प्रकार से सम्पन्न होने पर भी अपनी लोभ प्रवृत्ति के कारण अपने घर मिष्टान्न बना कर कभी खाता नही, अतिथि के आने पर कदाचित बनाता है और उसके साथ बैठ कर खाता भी है, पर अतिथि के समान उसमे मग्न नही हो पाता, क्योंकि वह खाते समय भी अपनी लोभ परिणति का वेदन करता रहता है मिष्टान्न के स्वाद का पूरा आनन्द

नही ले पाता । उसी प्रकार आत्मानुभूति प्राप्त पुरुष विषयों के वीच रहकर भी विपयो के प्रति रुचि के अभाव एव आत्मरुचि के सद्भाव के कारण अज्ञानी के समान भोगो मे मग्न नही होता है । अत उसे इस अपेक्षा भोगी भी नही कहा जा सकता, तथा अपनी अन्तरग परिणति मे जो राग भाव है, उसके कारण वह भोगो को त्याग भी नही पाता। अत वह भोगो का त्याग न कर पाने की वजह से त्यागी भी नही कहा जा सकता है। वह न भोगी है और न त्यागी। वस्तुत वह निरन्तर त्याग की भावना वाला भोगो के वीच खडा हुआ व्यक्ति है ।

आत्मानुभव प्राप्त ज्ञानी पुरुष की अन्तर्वाह्य परिणति एक ऐसा विपय है जिसके विवेचन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना अपेक्षित है ।

> "विश्व का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र है, वह अपने परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता स्वय है, उसके परिणमन मे पर का हस्तक्षेप रचमात्र भी नही है ।"

अहिंसा

'अहिंसा परमो धर्मः'—अहिंसा को परम धर्म घोषित करने वाली यह सूक्ति आज भी बहु प्रचलित है। यह तो एक स्वीकृत तथ्य है कि अहिंसा परम धर्म है, पर प्रश्न यह है कि अहिंसा क्या है? साधारण भाषा में अहिंसा शब्द का अर्थ होता है—हिंसा न करना। किन्तु जब भी हिंसा-अहिंसा की चर्चा चलती है, तो हमारा ध्यान प्रायः दूसरे जीवों को मारना, सताना या उनकी रक्षा करना आदि की ओर ही जाता है। हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध प्रायः दूसरों से ही जोड़ा जाता है। दूसरों की हिंसा मत करो, बस यही अहिंसा है, ऐसा ही सर्वाधिक विश्वास है; किन्तु यह एकांगी दृष्टिकोण है। अपनी भी हिंसा होती है, इस ओर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है जिनका जाना भी है तो वे भी आत्महिंसा का अर्थ केवल विष-भक्षणादि द्वारा आत्मघात (आत्महत्या) ही मानते हैं, उसकी गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया जाता है। अन्तर में राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति का होना भी हिंसा है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। प्रसिद्ध जैनाचार्य अमृतचन्द्र ने अन्तरंग पक्ष को लक्ष्य में रखते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में हिंसा-अहिंसा की निम्नलिखित परिभाषा दी है —

अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप' ।।४४।।

आत्मा मे राग-द्वेष-मोहादि भावो की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और इन भावों का आत्मा मे उत्पन्न नही होना ही अहिंसा है । यही जिनागम का सार है ।

यहा स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि क्या फिर जीवो का मरना, मारना हिंसा नही है और उनकी रक्षा करना अहिंसा नही ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमे जीवन और मरण के स्वरूप पर विचार करना होगा ।

'मरणं प्रकृतिर्शरीरिणां'—इस सूक्ति के अनुसार यह एक स्थापित सत्य है कि जो जन्म लेता है वह एक न एक दिन मरता अवश्य है, शरीरधारी अमर नही है । समय आने पर या तो वह दूसरे प्राणी द्वारा मार डाला जाता है या स्वय मर जाता है । यदि मृत्यु को हिंसा माने तो कभी भी हिंसा की समाप्ति नही होगी तथा जीवन का नाम अहिंसा मानना होगा । लोक मे भी यथासमय बिना वाह्य कारण के होने वाली मृत्यु को हिंसा नही कहा जाता है और न सहज जीवन को अहिंसा ही । इसी प्रकार वाढ, भूकम्प आदि प्राकृतिक कारणो से भी हजारो प्राणी मर जाते हैं किन्तु उसे भी हिंसा के अन्तर्गत नही लिया जाता है, अतः मरना हिंसा और जीवन अहिंसा तो नही हुआ । जहां तक मारने और वचाने की वात है, उसके सम्वन्ध मे समयसार मे समागत आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नलिखित कथनो की ओर ध्यान देना होगा.—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो ॥२४७॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउ ण हरंति तुह कह ते मरणं कय तेहिं ॥२४९॥

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो ॥२५०॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एव भणंति सव्वण्हू ।
आउ च ण देसि तुम कह तए जीविय कयं तेसिं ॥२५१॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुह कहं णु ते जीविय कय तेहिं ॥२५२॥

जो यह मानता है कि मैं पर-जीवों को मारता हूँ और पर-जीव मुझे मारते हैं, वह मूढ है, अज्ञानी है, और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तुम पर-जीवों के आयुकर्म को तो हरते नहीं हो फिर तुमने उनका मरण कैसे किया ?

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। पर-जीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा मरण कैसे किया ?

जो जीव यह मानता है कि मैं पर-जीवों को जिलाता (रक्षा करता) है और पर-जीव मुझे जिलाते (रक्षा करते)

हैं; वह मूढ है, अज्ञानी है, और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। तुम पर-जीवो को आयुकर्म तो नही देते तो तुमने उनका जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। पर-जीव तुझे आयुकर्म तो देते नही हैं तो उन्होंने तेरा जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

उक्त कथन का निष्कर्ष देते हुए वे अन्त मे लिखते हैं –

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥

जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

जो मरता है और जो दु खी होता है वह सब कर्मोदय से होता है, अत 'मैने मारा, मैने दु खी किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव मे मिथ्या नही है ? अवश्य ही मिथ्या है। और जो न मरता है और न दु खी होता है वह भी वास्तव मे कर्मोदय से ही होता है। अत. 'मैने नही मारा, मैने दु खी नही किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव मे मिथ्या नही है ? अवश्य ही मिथ्या है।

उक्त सपूर्ण कथन को आचार्य अमृतचद्र ने दो छन्दो मे निम्नानुसार अभिव्यक्त किया है:—

सर्व सदैव नियत भवति स्वकीय—
कर्मोदयान्मरणजीवितदु खसौख्यम्।

अज्ञानमेतदिह यत्तु पर परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदु.खसौख्यम् ।।१६८।।
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहङ्कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवति ।।१६९।।

इस जगत मे जीवों के जीवन-मरण, सुख-दु ख, यह सब सदैव नियम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मोदय से होता है। 'दूसरा पुरुष इसके जीवन-मरण, सुख-दु ख का कर्ता है', यह मानना तो अज्ञान है।

जो पुरुष पर के जीवन-मरण, सुख-दु ख का कर्ता दूसरो को मानते हैं, अहकार रस से कर्मोदय को करने के इच्छुक वे पुरुष नियम से मिथ्यादृष्टि हैं और अपने आत्मा का घात करने वाले हैं।

उक्त कथनो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों को यह कदापि स्वीकार्य नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को मार या बचा सकता है, अथवा दुःखी या सुखी कर सकता है। जब कोई किसी को मार ही नहीं सकता और मरते को बचा भी नहीं सकता है तो फिर 'मारने का नाम हिंसा और बचाने का नाम अहिंसा' यह कहना क्या अर्थ रखता है?[1]

द्रव्य-स्वभाव से आत्मा की अमरता एवं पर्याय के परिवर्तन में स्वयं के उपादान एवं कर्मोदय की निमित्त

---

१ समयसार कलश

स्वीकार कर लेने के वाद एक प्राणी द्वारा दूसरे प्राणी का वध और रक्षा करने की वात मे कितनी सच्चाई रह जाती है, यह एक सोचने की वात है। अतः यह कहा जा सकता है कि न मरने का नाम हिंसा है न मारने का, इसी प्रकार न जीने का नाम अहिंसा है न जिलाने का।

हिंसा-अहिंसा का सबध सीधा आत्मपरिणामो से है। वे दोनो आत्मा के ही विकारी-अविकारी परिणाम हैं। जड मे उनका जन्म नही होता। यदि कोई पत्थर किसी प्राणी पर गिर जाय और उससे उसका मरण हो जाय तो पत्थर को हिंसा नही होती, किन्तु कोई प्राणी किसी को मारने का विकल्प करे तो उसे हिंसा अवश्य होगी, चाहे वह प्राणी मरे या न मरे। हिंसा-अहिंसा जड मे नही होती, जड के कारण भी नही होती। उनका उत्पत्ति स्थान व कारण दोनो ही चेतन में विद्यमान हैं। चिद्‌विकार होने से झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-सग्रह के भाव भी हिंसा के ही रूपान्तर हैं। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दो मे —

आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अमृतवचनादिकेवलमुदाहृत शिष्यवोधाय ॥४२॥[1]

आत्मा के शुद्ध परिणामो के घात होने से झूठ, चोरी, आदि सभी हिंसा ही हैं; भेद करके तो मात्र शिष्यो को समझाने के लिए कहे गए हैं।

वस्तुत: हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध पर-जीवों के जीवन-मरण, सुख-दु ख से न होकर आत्मा मे उत्पन्न होने वाले

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

राग-द्वेष-मोह परिणामो से है; पर के कारण आत्मा
हिंसा उत्पन्न नही होती। कहा भी है:—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंस।
हिंसायतननिवृत्ति परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४६॥[1]

यद्यपि पर-वस्तु के कारण रंच मात्र भी हिंसा नहीं
होती है तथापि परिणामो की शुद्धि के लिए हिंसा के स्था
परिग्रहादि को छोड देना चाहिए। क्योकि जीव चाहे म
या न मरे-अयत्नाचार (अनर्गल) प्रवृत्ति वालो को ब
होता है। सो ही कहा है —

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥२१७॥[2]

हिंसा के दो भेद करके समझाया गया है। भावहिंस
और द्रव्य-हिंसा। रागादि के उत्पन्न होने पर आत्माभाव
के उपयोग की शुद्धता (शुद्ध पयोग) का घात होना भावहिंस
है और रागादि भाव हैं निमित्त जिसमें, ऐसे अपने औ
पराये द्रव्य-प्राणो का घात होना द्रव्यहिंसा है।

व्यवहार मे जिसे हिंसा कहते हैं—जैसे किसी क
सताना, दुःख देना आदि वह हिंसा न हो, यह बात नहीं है
वह तो हिंसा है ही, क्योंकि उसमे प्रमाद का योग रहत
है। आचार्य उमास्वामी ने 'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोप
हिंसा' कहा है। प्रमाद के योग से प्राणियो के द्रव्य औ
भाव प्राणो का घात होना हिंसा है। उनका प्रमाद

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
[2] प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द

आशय मोह-राग द्वेप आदि विकारो से ही है। अत' उक्त कथन मे द्रव्य-भाव मे दोनो प्रकार की हिंसा समाहित हो जाती है। परन्तु हमारा लक्ष्य प्राय' बाह्य हिंसा पर केन्द्रित रहता है, अतरग मे होने वाली भावहिंसा की ओर नही जा पाता है, अत' यहाँ पर विशेषकर अतरग में होने वाली रागादि भाव रूप भावहिंसा की ओर ध्यान आर्कापित किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तीव्र राग तो हिंसा है पर मद राग को हिंसा क्यो कहते हो? किन्तु जव राग हिंसा है तो मद राग अहिंसा कैसे हो जायगा, वह भी तो राग की ही एक दशा है। यह बात अवश्य है कि मद राग मद हिंसा है और तीव्र राग तीव्र हिंसा है। अत यदि हम हिंसा का पूर्ण त्याग नही कर सकते है तो उसे मद तो करना ही चाहिए। राग जितना घटे उतना ही अच्छा है, पर उसके सद्भाव को धर्म कहा जा सकता है। धर्म तो राग-द्वेप-मोह का अभाव ही है और वही अहिंसा है, जिसे परम धर्म कहा जाता है।

एक यह प्रश्न भी सभव है कि ऐसी अहिंसा पूर्णत तो साधु के भी सभव नही है। अत. सामान्य जनो (श्रावको) को तो दया रूप (दूसरो को वचाने का भाव) अहिंसा ही सच्ची है। आचार्य अमृतचन्द्र ने श्रावक के आचरण के प्रकरण मे ही इस बात को लेकर यह सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा दो प्रकार की नही होती। अहिंसा को जीवन मे उतारने के स्तर कई हो सकते है। हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। यदि कोई पूर्ण हिंसा का त्यागी नही हो सकता तो

अल्प हिंसा का त्याग करे, पर जो हिंसा वह छोड न सके उसे अहिंसा तो नही माना जा सकता है। यदि हम पूर्णत हिंसा का त्याग नही कर सकते तो अशत. त्याग करना चाहिए। यदि वह भी न कर सके तो कम से कम हिंसा मे धर्म मानना और कहना तो छोडना चाहिए। शुभ राग, राग होने से हिंसा मे आता है और उसे धर्म नही माना जा सकता।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न हो सकता है कि जब मारने के भाव हिंसा हैं तो बचाने के भाव का नाम अहिंसा होगा? और शास्त्रो मे उसे मारने के भाव की अपेक्षा मद कषाय एव शुभ भाव रूप होने से व्यवहार से अहिंसा कहा भी है। परन्तु निश्चय से ऐसा नही है तथा यही बात तो जैनदर्शन मे सूक्ष्मता से समझने की है। जैन दर्शन का कहना है कि मारने का भाव तो हिंसा है ही किन्तु बचाने का भाव भी निश्चय से हिंसा ही है क्योंकि वह भी रागभाव ही है और राग चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यो न हो, हिंसा ही है। पूर्व मे हिंसा की परिभाषा मे राग की उत्पत्ति मात्र को हिंसा बताया जा चुका है। यद्यपि बचाने का राग मारने के राग की अपेक्षा प्रशस्त है तथापि है तो राग ही। राग तो आग है। आग चाहे नीम की हो या चन्दन की—जलायेगी ही। उसी प्रकार सर्व प्रकार का राग हिंसारूप ही होता है। अहिंसा तो वीतराग परिणति का नाम है, शुभाशुभ राग का नाम नही। यद्यपि मारने के भाव मे पाप का बध होता है और बचाने के भाव मे पुण्य का, तथापि होता तो बध है, बध का अभाव नही।

धर्म तो वध का अभाव करने वाला है, अतः वध के कारण को धर्म कैसे कहा जा सकता है ? अत वीतराग भाव ही अहिंसा है, वस्तु का स्वभाव होने से वही धर्म है, और मुक्ति का कारण भी वही है। बचाने के भाव को हिंसा कहने मे एक और रहस्य अन्तर्गर्भित है। वह यह है कि जब कोई अज्ञानी जीव किसी अन्य जीव को वस्तुत' मार तो सकता नही, किन्तु मारने की बुद्धि करता है तब उसकी वह बुद्धि तथ्य के विपरीत होने से मिथ्या है, उसी प्रकार जब कोई जीव किसी को बचा तो नही सकता किन्तु बचाने की बुद्धि करता है, तब उसकी यह बचाने की बुद्धि भी उससे कम मिथ्या नही है। मिथ्या होने मे दोनो मे समानता है। मिथ्यात्व सबसे बडा पाप है, जो दोनो मे समान रूप से विद्यमान है। तो भी बचाने का भाव पुण्य का कारण है और मारने का भाव पाप का कारण है। ये दोनो प्रकार के भाव भूमिकानुसार ज्ञानियो मे भी पाए जाते हैं। यद्यपि उनकी श्रद्धा मे वे हेय ही है तथापि चरित्र की कमजोरी के कारण आए बिना भी नही रहते।

उक्त तथ्य को आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी ने २१० वर्ष पूर्व निम्नानुसार व्यक्त किया है —

"तहाँ अन्य जीवनि कौ जीवावने का वा सुखी करने का अध्यवसाय होय सो तौ पुण्य-बध का कारण है, अर मारने का वा दु खी करने का अध्यवसाय होय सो पाप बध का कारण-है। हिंसा विषै मारने की बुद्धि होय सो वाका आयु पूरा हुवा बिना मरै नाही, अपनी द्वेष परिणति

करि आप ही पाप बाधै है। अहिंसा (व्यवहार अहिंसा) विषै रक्षा करने की बुद्धि होय सो वाका आयु अवशेष बिना जीवै नाही, अपनी प्रशस्त राग परिणति करि आप ही पुण्य बाधै है। ऐसे ए दोऊ हेय हैं। जहाँ वीतराग होय दृष्टा-ज्ञाता प्रवर्ते, तहाँ (वास्तविक अहिंसा होने से) निर्बन्ध है। सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न होइ, तावत् प्रशस्त राग-रूप प्रवर्तो, परन्तु श्रद्धान तो ऐसा राखो—यहु भी बध का कारण है, हेय है। श्रद्धान विषै याको मोक्षमार्ग जानै मिथ्यादृष्टि ही हो है।"[1]

जैन दर्शन के अनेकान्तिक दृष्टिकोण मे उपर्युक्त अहिंसा के सम्बन्ध मे यह आरोप भी नही लगाया जा सकता है यदि उक्त अहिंसा को ही व्यवहारिक जीवन में उपादेय मान लेंगे तो फिर देश, समाज, घरबार, यहा तक कि अपनी मा-बहिन की इज्जत बचाना भी सम्भव न होगा। क्योंकि प्रथम तो 'कोई व्यक्ति किसी का जीवन-मरण, सुख-दुख कर ही नही सकता', इस सत्य की स्वीकृति के उपरान्त यह प्रश्न उठना ही नही चाहिए, दूसरे भूमिका-नुसार ज्ञानी जीवो के भी रक्षा आदि के भाव हेयबुद्धिपूर्वक आए बिना नही रहते। ज्ञानी गृहस्थो के जीवन मे अहिंसा और हिंसा का क्या रूप विद्यमान रहता है, इसका विस्तृत वर्णन जैनाचार ग्रन्थो मे मिलता है तथा उसके प्रायोगिक रूप के दर्शन जैन पुराणो के परिशीलन से किए जा सकते हैं। यहाँ उसकी विस्तृत समीक्षा के लिए अवकाश नही है।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली, ३३२-३३

अनेकान्त और स्याद्वाद

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। प्रत्येक वस्तु अनेक गुण-धर्मों से युक्त है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही अनेकान्त है और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं। अनेकान्त और स्याद्वाद मे द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध है।

अनेकान्त शब्द 'अनेक' और 'अन्त' दो शब्दो से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ होता है – एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच मे अनेक अर्थ सम्भव हैं। तथा अन्त का अर्थ है धर्म अर्थात् गुण। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान है, अत जहाँ अनेक का अर्थ अनन्त होगा वहाँ अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिये। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा – अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है। किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जायगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा – परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु मे होना अनेकान्त है।

स्यात्कार का प्रयोग धर्मो मे होता है, गुणो मे नही। सर्वत्र ही स्यात्कार का प्रयोग धर्मों के साथ किया है, कही भी अनुजीवी गुणो के साथ नही[1] यद्यपि 'धर्म' शब्द का सामान्य अर्थ गुण होता है, शक्ति आदि नामो से भी उसे अभिहित किया जाता है, तथापि गुण और धर्म मे कुछ अन्तर है। प्रत्येक वस्तु मे अनन्त शक्तियाँ है, जिन्हे गुण या धर्म कहते हैं। उनमे से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती है, उन्हे धर्म कहते हैं। जैसे – नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सत्-असत्, भिन्नता-अभिन्नता, आदि। जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं, उन्हे गुण कहते है। जैसे – आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि, पुद्गल के रूप, रस, गंध आदि।

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ ५०१

[भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन]

जिन गुणो मे परस्पर कोई विरोध नही है, एक वस्तु मे उनकी एक साथ सत्ता तो सभी वादी-प्रतिवादी सहज स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु जिनमे विरोध-सा प्रतिभासित होता है, उन्हे स्याद्वादी ही स्वीकार करते है। इतर जन उनमे से किसी एक पक्ष को ग्रहण कर पक्षपाती हो जाते है। अत· अनेकान्त की परिभाषा मे परस्पर विरुद्ध शक्तियो के प्रकाशन पर विशेष बल दिया गया है।

प्रत्येक वस्तु मे परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक युगल (जोडे) पाये जाते हैं, अत वस्तु केवल अनेक धर्मों (गुणो) का ही पिण्ड नही है – किन्तु परस्पर विरोधी दिखने वाले अनेक धर्म-युगलो का भी पिण्ड है। उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मो को स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली से प्रतिपादन करता है।

प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म हैं। उन सब का कथन एक *साथ तो सम्भव नही है – क्योकि शब्दो की शक्ति सीमित है,* वे एक समय मे एक ही धर्म को कह सकते है। अत अनन्त धर्मो मे एक विवक्षित धर्म मुख्य होता है जिसका कि प्रतिपादन किया जाता है, वाकी अन्य सभी धर्म गौण होते हैं, क्योकि उनके सम्वन्ध मे अभी कुछ नही कहा जा रहा है। यह मुख्यता और गौणता वस्तु मे विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नही, किन्तु वक्ता की इच्छानुसार होती है। विवक्षा-अविवक्षा वाणी के भेद है, वस्तु के नही। वस्तु मे तो सभी धर्म प्रति समय अपनी पूरी हैसियत से विद्यमान रहते है, उनमे मुख्य-गौण का कोई प्रश्न ही नही है, क्य

"अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है । किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा सारी की सारी वस्तु का युगपत् कथन करना अशक्य होने से प्रयोजनवश कभी एक धर्म को मुख्य करके कथन करते हैं और कभी दूसरे को। मुख्य धर्म को सुनते हुए श्रोता के अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहे, उनका निषेध न होने पावे, इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् या कथचित् शब्द का प्रयोग करता है [१] ।"

कुछ विचारक कहते है कि स्याद्वाद शैली मे 'भी' का प्रयोग है, 'ही' का नही। उन्हे 'भी' मे समन्वय की सुगध और 'ही' मे हठ की दुर्गन्ध आती है, पर यह उनका वौद्धिक भ्रम ही है। स्याद्वाद शैली मे जितनी आवश्यकता 'भी' के प्रयोग की है, उससे कम आवश्यकता 'ही' के प्रयोग की नही। 'भी' और 'ही' का समान महत्त्व है।

'भी' समन्वय की सूचक न होकर 'अनुक्त' की सत्ता की सूचक है और 'ही' आग्रह की सूचक न होकर 'दृढता' की सूचक है। इनके प्रयोग का एक तरीका है और वह है – जहाँ अपेक्षा न वताकर मात्र यह कहा जाता है कि 'किसी अपेक्षा'[२] वहाँ 'भी' लगाना जरूरी है और जहाँ अपेक्षा स्पष्ट वता दी जाती है वहाँ 'ही' लगाना अनिवार्य है।

---

[१] जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ ४९७
[भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन]

[२] 'किसी अपेक्षा' के भाव को स्यात् या कथचित् शब्द प्रकट करते हैं।

ाया जाय इसके लिए 'भी' का प्रयोग है, अनेक मिथ्या क़ान्तो के जोड-तोड़ के लिए नही ।

इसी प्रकार 'ही' का प्रयोग 'आग्रही' का प्रयोग न कर इस बात को स्पष्ट करने के लिए है कि अश के बारे जो कहा गया है, वह पूर्णत सत्य है । उस दृष्टि से वस्तु सी ही है, अन्य रूप नही ।

समन्तभद्रादि आचार्यो ने पद-पद पर 'ही' का प्रयोग िया है[1] । 'ही' के प्रयोग का समर्थन श्लोकवार्तिक मे इस कार किया है –

वाक्येऽवधारण तावदनिष्ठार्थ निवृत्तये ।
कर्त्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ।।

वाक्यो मे 'ही' का प्रयोग अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति और ढता के लिए करना ही चाहिए, अन्यथा कही-कही वह वाक्य ही कहा गया सरीखा समझा जाता है[2] । युक्त्यनुशासन लोक ४१-४२ मे आचार्य समन्तभद्र ने भी इसी प्रकार का ाव व्यक्त किया है ।

इसी सन्दर्भ मे सिद्धान्ताचार्य पडित कैलाशचन्दजी ़खते है –

"इसी तरह वाक्य मे एवकार (ही) का प्रयोग न करने र भी सर्वथा एकान्त को मानना पडेगा, क्योकि उस स्थिति

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ।।
— आप्तमीमासा, श्लोक १५

[2] श्लोकवार्तिक, अ० १, सूत्र ६, श्लोक ५३

मे अनेकान्त का निराकरण अवश्यम्भावी है। जैसे – 'उपयोग लक्षण जीव का ही है' – इस वाक्य में एवकार (ही) होने से यह सिद्ध होता है कि उपयोग लक्षण अन्य किसी का न होकर जीव का ही है, अत यदि इसमे से 'ही' को निकाल दिया जाय तो उपयोग अजीव का भी लक्षण हो सकता है[1]।"

प्रमाण वाक्य मे मात्र स्यात् पद का प्रयोग होता है, किन्तु नय वाक्य मे स्यात् पद के साथ-साथ एव (ही) का प्रयोग भी आवश्यक है[2]। 'ही' सम्यक् एकान्त की सूचक है और 'भी' सम्यक् अनेकान्त की।

यद्यपि जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है, तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी माने तो यह भी तो एकान्त हो जायगा। अत. जैन दर्शन मे अनेकान्त मे भी अनेकान्त को स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथचित् एकान्तवादी और कथचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त मे अनेकान्त है। कहा भी है :–

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधन।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्[3]॥

प्रमाण और नय है साधन जिसके, ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है, क्योंकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा

---

[1] जैन न्याय, पृष्ठ ३०० [भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन]
[2] नयचक्र, पृष्ठ १२९ [भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन]
[3] स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक १०३ (अरनाथ स्तुति, श्लोक १८)

वस्तु अनेकान्तस्वरूप एव अशग्राही नय की अपेक्षा वस्तु एकान्तरूप सिद्ध है।

जैन दर्शन के अनुसार एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का – यथा सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त, सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। निरपेक्ष नय मिथ्या एकान्त है और सापेक्ष नय सम्यक् एकान्त है तथा सापेक्ष नयो का समूह अर्थात् श्रुतप्रमाण सम्यक् अनेकान्त है और निरपेक्ष नयो का समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या अनेकान्त है। कहा भी है —

जं वत्थु अणेयन्त, एयत त पि होदि सविपेक्ख।
सुयणाणेण णएहि य, णिरवेक्ख दीसदे णेव[1] ॥

जो वस्तु अनेकान्त, रूप है वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयो की अपेक्षा एकान्त रूप है। विना अपेक्षा के वस्तु का रूप नही देखा जा सकता है।

अनेकान्त मे अनेकान्त की सिद्धि करते हुए अकलकदेव लिखते है : –

"यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त का सर्वथा लोप किया जाय तो सम्यक् एकान्त के अभाव मे, शाखादि के अभाव मे वृक्ष के अभाव की तरह, तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायगा। अत. यदि एकान्त ही स्वीकार कर लिया जावे तो फिर

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१

अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्व लोप का प्रसग प्राप्त होगा[१] ।"

सम्यगेकान्त नय है और सम्यगनेकान्त प्रमाण[२] । अनेकान्तवाद सर्वनयात्मक है । जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियो को एक सूत्र मे पिरो देने से मोतियो का सुन्दर हार बन जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नयो को स्याद्वादरूपी सूत मे पिरो देने से सम्पूर्ण नय श्रुतप्रमाण कहे जाते है[३] ।

परमागम के बीजस्वरूप अनेकान्त मे सम्पूर्ण नयो (सम्यक् एकान्तो) का विलास है, उसमे एकान्तों के विरोध को समाप्त करने की सामर्थ्य है[४], क्योकि विरोध वस्तु मे नही, अज्ञान मे है । जैसे – एक हाथी को अनेक जन्मान्ध व्यक्ति छूकर जानने का यत्न करे और जिसके हाथ मे हाथी का पैर आ जाय वह हाथी को खम्भे के समान, पेट पर हाथ फेरने वाला दीवाल के समान, कान पकडने वाला सूप के समान और सूंड पकडने वाला केले के स्तम्भ के समान कहे तो वह सम्पूर्ण हाथी के बारे मे सही नही होगा । क्योकि देखा है अश और कहा गया सर्वांश को ।

यदि अश देखकर अश का ही कथन करे तो गलत नही होगा । जैसे – यदि यह कहा जाय कि हाथी का पैर खम्भे के समान है, कान सूप के समान है, पेट दीवाल के समान है

---

[१] राजवार्तिक, अ० १, सूत्र ६ की टीका

[२] वही, अ० १ सूत्र ६ की टीका

[३] स्याद्वादमजरी, श्लोक ३० की टीका

[४] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २

तो कोई असत्य नही, क्योकि यह कथन सापेक्ष है और सापेक्ष नय सत्य होते हैं, अकेला पैर हाथी नही है, अकेला पेट भी हाथी नही है, इसी प्रकार कोई भी अकेला अग अगी को व्यक्त नही कर सकता है।

'स्यात्' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ जो कथन किया जा रहा है, वह अश के सम्बन्ध मे है, पूर्ण वस्तु के सम्बन्ध मे नही। हाथी और हाथी के अगो के कथन मे 'ही' और 'भी' का प्रयोग इस प्रकार होगा —

हाथी किसी अपेक्षा दीवाल के समान भी है, किसी अपेक्षा खभे के समान भी है, और किसी अपेक्षा सूप के समान भी है। यहाँ अपेक्षा बताई नही गई है, मात्र इतना कहा गया है कि 'किसी अपेक्षा', अत 'भी' लगाना आवश्यक हो गया। यदि हम अपेक्षा बताते जावे तो 'ही' लगाना अनिवार्य हो जायगा, अन्यथा भाव स्पष्ट न होगा, कथन मे दृढता नही आयेगी, जैसे हाथी का पैर खम्भे के समान ही है, कान सूप के समान ही है, और पेट दीवाल के समान ही है।

उक्त कथन अश के बारे मे पूर्ण सत्य है, अतः 'ही' लगाना आवश्यक है तथा पूर्ण के बारे मे आशिक सत्य है, अत 'भी' लगाना जरूरी है।

जहाँ 'स्यात' पद का प्रयोग न भी हो तो भी विवेकी जनो को यह समझना चाहिये कि वह अनुक्त (साइले—) है। कसायपाहुड मे इस सम्बन्ध मे स्पष्ट लिखा है :-

"स्यात् शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रखने वाला वक्ता यदि स्यात् शब्द का प्रयोग न भी करे तो भी उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अतएव स्यात् शब्द का प्रयोग नही करने पर भी कोई दोष नही है। कहा भी है—स्यात् शब्द के प्रयोग की प्रतिज्ञा का अभिप्राय रखने से 'स्यात्' शब्द का अप्रयोग देखा जाता है[1]।"

यद्यपि प्रत्येक वस्तु अनेक परस्पर विरोधी धर्म-युगलो का पिण्ड है तथापि वस्तु मे सम्भाव्यमान परस्पर विरोधी धर्म ही पाये जाते है, असम्भाव्य नही। अन्यथा आत्मा मे नित्यत्व-अनित्यत्वादि के समान चेतन-अचेतनत्व धर्मो की सम्भावना का प्रसग आयेगा। इस बात को 'धवला' मे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"प्रश्न—जिन धर्मों का एक आत्मा मे एक साथ रहने का विरोध नही है, वे रहे, परन्तु सम्पूर्ण धर्म तो एक साथ एक आत्मा मे रह नही सकते ?

उत्तर—कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मों का एक साथ एक आत्मा मे रहना सम्भव है ? यदि सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ आत्मा मे रहने का प्रसग आ जायेगा। इसलिए सम्पूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मा मे रहते है, अनेकान्त का यह अर्थ

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ ५०१
[भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन]

नही समझना चाहिए, किन्तु जिन धर्मों का जिस आत्मा मे अत्यन्त अभाव नही, वे धर्म उस आत्मा मे किसी काल और किसी क्षेत्र की अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते है[1] ।"

अनेकान्त और स्याद्वाद का प्रयोग करते समय यह सावधानी रखना बहुत आवश्यक है कि हम जिन परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता वस्तु मे प्रतिपादित करते है, उनकी सत्ता वस्तु मे सम्भावित है भी या नही; अन्यथा कही हम ऐसा भी न कहने लगें कि कथचित् जीव चेतन है व कथचित् अचेतन भी । अचेतनत्व की जीव मे सम्भावना नही है, अत. यहाँ अनेकान्त बताते समय अस्ति-नास्ति के रूप मे घटाना चाहिए । जैसे – जीव चेतन (ज्ञान-दर्शन स्वरूप) ही है, अचेतन नही ।

वस्तुत चेतन और अचेतन तो परस्पर विरोधी धर्म हैं और नित्यत्व-अनित्यत्व परस्पर विरोधी नही, विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म है, वे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, है नही । उनकी सत्ता एक द्रव्य मे एक साथ पाई जाती है । अनेकान्त परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का प्रकाशन करता है ।

जिनेन्द्र भगवान का स्याद्वादरूपी नयचक्र अत्यन्त पैनी धार वाला है। इसे अत्यन्त सावधानी से चलाना चाहिए, अन्यथा धारण करने वाले का ही मस्तक भंग हो सकता

---

[1] धवला पु० १, खण्ड १, भाग १, सूत्र ११, पृष्ठ १६७

है[१] । इसे चलाने के पूर्व नयचक्र चलाने मे चतुर गुरुओ की शरण लेना चाहिये[२] । उनके मार्गदर्शन मे जिनवाणी का मर्म समझना चाहिए ।

अनेकान्त और स्याद्वाद सिद्धान्त इतना गूढ व गम्भीर है कि इसे गहराई से और सूक्ष्मता से समझे विना इसकी तह तक पहुँचना असम्भव है, क्योकि ऊपर-ऊपर से देखने पर यह एकदम गलत सा प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध मे हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के दर्शन-शास्त्र के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक श्री फणिभूषण अधिकारी ने लिखा है :–

"जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धात को जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नही । यहाँ तक कि शकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नही हैं, उन्होने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है । यह बात अल्पज्ञ पुरुषो के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मै भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मै इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ । ऐसा जान पडता है कि उन्होने इस धर्म के दर्शन-शास्त्र के मूल ग्रन्थो के अध्ययन करने की परवाह नही की[३] ।"

---

[१] अत्यन्तनिशितधार, दुरासद जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाण मूर्धान झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५९

[२] गुरवो भवन्ति शरण प्रबुद्धनयचक्रसचारा । —वही, श्लोक ५८

[३] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ६२
[श्री वी० नि० ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर]

हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं –

"प्राचीन दर्जे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बडे शास्त्री तक अब भी नही जानते कि जैनियो का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है[१] ।"

श्री महामहोपाध्याय सत्य सम्प्रदायाचार्य प० स्वामी राममिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर, सस्कृत कॉलेज, वाराणसी लिखते हैं –

"मै कहाँ तक कहूँ, बडे-बडे नामी आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है जिसे सुन-देख हसी आती है, स्याद्वाद यह जैन धर्म का अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियो के मायामयी गोले नही प्रवेश कर सकते ।

जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियो के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारो का द्वार खुल जाता है[२] ।"

सस्कृत के उद्भट विद्वान् डॉ० गगानाथ झा के विचार भी द्रष्टव्य हैं –

---

[१] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ६२
[श्री वी० नि० ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर]

[२] वही

जब से मैने शकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खडन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त मे बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्य ने नही समझा और जो कुछ अब तक जैन धर्म को जान सका हूँ उससे मेरा दृढ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैन धर्म को उसके मूल ग्रन्थो मे देखने का कष्ट उठाते तो उन्हे जैन धर्म का विरोध करने की कोई बात नही मिलती [1] ।"

'स्यात्' पद का ठीक-ठीक अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसके सम्बन्ध मे बहुत भ्रम प्रचलित हैं—कोई स्यात् का अर्थ सशय करते है, कोई शायद, तो कोई सम्भावना। इस तरह से स्याद्वाद को शायदवाद, सशयवाद, या सम्भावनावाद बना देते है। 'स्यात्' शब्द 'तिङन्त' न होकर 'निपात' है। वह सदेह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है। 'स्यात्' शब्द को स्पष्ट करते हुए तार्किकचूडामणि आचार्य समन्तभद्र लिखते है :—

> वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेषण ।
> स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तवकेवलिनामपि[2] ।१०३॥

'स्यात्' शब्द निपात है। वाक्यो मे प्रयुक्त यह शब्द अनेकान्त का द्योतक वस्तुस्वरूप का विशेषण है।

---

[1] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ६८

[2] आप्तमीमासा, श्लोक १०३

शायद, सशय और सम्भावना मे एक अनिश्चय है; अनिश्चय अज्ञान का सूचक है। स्याद्वाद मे कही भी अज्ञान की झलक नही है। वह जो कुछ कहता है, दृढ़ता के साथ कहता है; वह कल्पना नही करता, सम्भावनाएँ व्यक्त नही करता।

श्री प्रो० आनन्द शकर बाबू भाई ध्रुव लिखते हैं –

"महावीर के सिद्धान्त मे बताये गये स्याद्वाद को कितने ही लोग सशयवाद कहते है, इसे मैं नही मानता। स्याद्ववाद सशयवाद नही है, किन्तु वह एक दृष्टि-विन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये यह हमे सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-विन्दुओ द्वारा निरीक्षण किये विना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप मे आ नही सकती। स्याद्वाद (जैन धर्म) पर आक्षेप करना यह अनुचित है[१]।"

आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद को केवलज्ञान के समान सर्वतत्त्व प्रकाशक माना है। भेद मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का है[२]।

---

[१] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ६४

[श्री० वी० नि० ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर]

[२] स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतम भवेत्॥

– आप्तमीमासा, श्लोक १०५

अनेकान्त और स्याद्वाद का सिद्धान्त वस्तुस्वरूप के सही रूप का दिग्दर्शन करने वाला होने से आत्म-शान्ति के साथ-साथ विश्व शान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है। इस सम्बन्ध मे सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान एव राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं :-

"इसमे कोई सन्देह नही कि अनेकान्त का अनुसधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा ससार इसे जितनी ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व मे शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी[1]।

मित्र और शत्रु राग-द्वेष की उपज है। मित्र रागियों के होते हैं और शत्रु द्वेषियों के। वीतरागियों का कौन मित्र और कौन शत्रु ? शत्रु-मित्र के प्रति समभाव का अर्थ ही शत्रु-मित्र का अभाव है।

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १३७

श्रावक की जीवन-धारा

समस्त जगत् दो धाराओ मे विभक्त है – एक भौतिक दूसरी आध्यात्मिक । भौतिक धारा का प्रवाह पूर्ण स्वच्छन्दता की ओर अग्रसर है, जिसकी चरम परिणति से सारा विश्व त्रस्त है । आध्यात्मिक ज्योति भी अपनी क्षीणतम स्थिति मे टिमटिमा रही है। दोनो की स्थिति क्या है, इसकी अपेक्षा दोनो की परिणति क्या है, इसका निर्णय अधिक महत्त्व रखता है ।

प्रश्न यह नही है कि कौन-सी धारा तेज है और कौन-सी मन्द ? प्रश्न यह है कि दोनो की प्रकृति क्या है ?

भौतिक धारा भोगमय धारा है। असीम और अनन्त भोग ही उसका लक्ष्य है। आध्यात्मिक धारा त्यागमय है और सर्व पर का त्याग एव एक आत्मनिष्ठता ही उसका सर्वस्व है ।

दोनो ही धाराएँ एकदम परस्पर विरुद्ध पथानुगामी हैं । एक कहती हे कि भोग और आनन्द मे सीमा कैसी, सीमा की बाधा मे रहते हुए तृप्ति कहा तथा तृप्ति विना आनन्द कैसा, दूसरी कहती है कि भोग मे आनन्द कैसा, आनन्द तो आत्मा की वस्तु है, अत आनन्द प्राप्ति के मार्ग मे भोग का कोई स्थान नही है । तात्पर्य यह है कि भौतिक धारा को भोग मे तनिक भी मर्यादा स्वीकार नही तथा आध्यात्मिक धारा को भोग की अणु मात्र भी उपस्थिति स्वीकार नही है ।

अनेकान्त और स्याद्वाद का सिद्धान्त वस्तुस्वरूप के सही रूप का दिग्दर्शन करने वाला होने से आत्म-शान्ति के साथ-साथ विश्व शान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है। इस सम्बन्ध मे सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान एवं राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं :-

"इसमे कोई सन्देह नही कि अनेकान्त का अनुसधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा ससार इसे जितनी ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी"[1] ।

मित्र और शत्रु राग-द्वेष की उपज है। मित्र रागियो के होते हैं और शत्रु द्वेषियों के। वीतरागियो का कौन मित्र और कौन शत्रु ? शत्रु-मित्र के प्रति समभाव का अर्थ ही शत्रु-मित्र का अभाव है।

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १३७

श्रावक की जीवन-धारा

समस्त जगत् दो धाराओ मे विभक्त है – एक भौतिक दूसरी आध्यात्मिक। भौतिक धारा का प्रवाह पूर्ण स्वच्छन्दता की ओर अग्रसर है, जिसकी चरम परिणति से सारा विश्व त्रस्त है। आध्यात्मिक ज्योति भी अपनी क्षीणतम स्थिति मे टिमटिमा रही है। दोनो की स्थिति क्या है, इसकी अपेक्षा दोनो की परिणति क्या है, इसका निर्णय अधिक महत्त्व रखता है।

प्रश्न यह नही है कि कौन-सी धारा तेज है और कौन-सी मन्द ? प्रश्न यह है कि दोनो की प्रकृति क्या है ?

भौतिक धारा भोगमय धारा है। असीम और अनन्त भोग ही उसका लक्ष्य है। आध्यात्मिक धारा त्यागमय है और सर्व पर का त्याग एव एक आत्मनिष्ठता ही उसका सर्वस्व है।

दोनो ही धाराएँ एकदम परस्पर विरुद्ध पथानुगामी हैं। एक कहती है कि भोग और आनन्द मे सीमा कैसी, सीमा की बाधा मे रहते हुए तृप्ति कहा तथा तृप्ति बिना आनन्द कैसा, दूसरी कहती है कि भोग मे आनन्द कैसा, आनन्द तो आत्मा की वस्तु है, अत: आनन्द प्राप्ति के मार्ग मे भोग का कोई स्थान नही है। तात्पर्य यह है कि भौतिक धारा को भोग मे तनिक भी मर्यादा स्वीकार नही तथा आध्यात्मिक धारा को भोग की अणु मात्र भी उपस्थिति स्वीकार नही है।

एक निर्बाध भोग चाहती है, दूसरी अणुमात्र भी भोग स्वीकार नही करती। एक का स्वामी उन्मुक्त भोगी होता है और दूसरे का स्वामी पूर्ण विरागी योगी।

परस्पर विरुद्ध पथानुगामिनी उक्त दोनो धाराओं के अद्‌भुत् सम्मिलन का नाम ही श्रावक धर्म की स्थिति है। श्रावक भोगो का पूर्ण त्यागी न होकर भी उनकी मर्यादा अवश्य स्थापित करता है। श्रावक धर्म योग पक्ष और भोग पक्ष का अस्थायी समझौता है, जिसकी धारा मे पचाणुव्रत और सप्तशील व्रत है।

भोग पक्ष कहता है अपनी सुख (भोग) सामग्री की प्राप्ति के लिए कितनी भी हिंसा क्यो न करनी पडे, करनी चाहिए। तब योग (अध्यात्म) पक्ष कहता है, हिंसा से प्राप्त होने वाला भोग हमे चाहिए ही नही अथवा भोग स्वय हिंसा है, अत हमे उसकी आवश्यकता ही नही है। सुख हमारे भीतर है, उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नही है।

तब एक समझौता होता है कि भाई यह सही है कि हमे भोगो की आवश्यकता नही, पर वर्तमान कमजोरी के कारण जो भौतिक अनिवार्य भोजनपानादि की आवश्यकता है उन्हे पूर्ण करने हेतु कुछ सामग्री तो चाहिए ही। उसी प्रकार भोगो की अनन्त इच्छाये तो कभी पूर्ण हो नही सकती, अत अमर्यादित भोगो को इकट्ठा करने के लिए हिंसा की अनुमति तो दी नही जा सकती। मध्यम मार्ग के रूप मे गृहस्थ जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यक आरम्भी, उद्योगी एव

विरोधी हिंसा-भाव को छोडकर बाकी हिंसा भाव का पूर्णत: त्याग करना चाहिए। इसी का नाम अहिंसाणुव्रत है।

इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के बारे मे भी जानना चाहिए। गृहस्थी को न्यायपूर्वक चलाने के लिए यदि कोई अनिवार्य सूक्ष्म असत्य वचन का आश्रय लेना पडे तो अलग बात है अन्यथा स्थूलरूप से समस्त असत्य वचन बोलने के भाव का त्याग होना ही सत्याणु-व्रत है।

जिसका कोई स्वामी न हो ऐसी मिट्टी और जल को छोडकर और कोई भी पदार्थ उसके लौकिक स्वामी की अनुमति बिना ग्रहण करने का भाव नही होना अचौर्याणुव्रत है। धर्मानुकूल विवाहित स्वपत्नी अथवा स्वपति को छोड-कर अन्य मे रति-भाव का न होना ही ब्रह्मचर्याणुव्रत है। इसी प्रकार अति आवश्यक सामग्री को मर्यादापूर्वक रखकर और समस्त परिग्रह को रखने और रखने के भाव का त्याग कर देना ही परिग्रहपरिमाण-अणुव्रत है।

उक्त पाँचो व्रतो को ही पचाणुव्रत कहते हैं। उक्त पचाणुव्रतो के साथ ही श्रावक के सप्तशीलव्रत भी कहे गए हैं। जिनमे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। उनकी भी स्थिति यही है। जब तक कोई गृहस्थ है, तब तक तत्सम्बन्धी व्यवहार व्यापारादि भी सम्भव हैं, किन्तु उसकी भावना निरन्तर उनमे मुक्त होने की रहती है। उक्त भावना की सिद्धि हेतु वह अपनी बाह्य परिणति को और भी सीमित करता है। वह मर्यादा मे मर्यादा बनाता चला जाता है। उक्त प्रक्रिया को ही गुणव्रत कहते हैं जो

एक निर्बाध भोग चाहती है, दूसरी अणुमात्र भी भोग स्वीकार नही करती । एक का स्वामी उन्मुक्त भोगी होता है और दूसरे का स्वामी पूर्ण विरागी योगी ।

परस्पर विरुद्ध पथानुगामिनी उक्त दोनों धाराओं के अद्भुत् सम्मिलन का नाम ही श्रावक धर्म की स्थिति है। श्रावक भोगो का पूर्ण त्यागी न होकर भी उनकी मर्यादा अवश्य स्थापित करता है । श्रावक धर्म योग पक्ष और भोग पक्ष का अस्थायी समझौता है, जिसकी धारा मे पचाणुव्रत और सप्तशील व्रत है ।

भोग पक्ष कहता है अपनी सुख (भोग) सामग्री की प्राप्ति के लिए कितनी भी हिंसा क्यो न करनी पड़े, करनी चाहिए । तब योग (अध्यात्म) पक्ष कहता है, हिंसा से प्राप्त होने वाला भोग हमे चाहिए ही नही अथवा भोग स्वयं हिंसा है, अत हमे उसकी आवश्यकता ही नही है । सुख हमारे भीतर है, उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नही है

तब एक समझौता होता है कि भाई यह सही है कि हमे भोगो की आवश्यकता नही, पर वर्तमान कमजोरी के कारण जो भौतिक अनिवार्य भोजनपानादि की आवश्यकता है उन्हे पूर्ण करने हेतु कुछ सामग्री तो चाहिए ही । इसी प्रकार भोगो की अनन्त इच्छाये तो कभी पूर्ण हो नही सकती, अत असमर्यादित भोगो को इकट्ठा करने के लिए हिंसा की अनुमति तो दी नही जा सकती । मध्यम मार्ग के रूप मे गृहस्थ जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यक आरम्भी, उद्योगी एवं

विरोधी हिंसा-भाव को छोडकर बाकी हिंसा भाव का पूर्णत: त्याग करना चाहिए। इसी का नाम अहिंसाणुव्रत है।

इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के बारे मे भी जानना चाहिए। गृहस्थी को न्यायपूर्वक चलाने के लिए यदि कोई अनिवार्य सूक्ष्म असत्य वचन का आश्रय लेना पडे तो अलग बात है अन्यथा स्थूलरूप से समस्त असत्य वचन बोलने के भाव का त्याग होना ही सत्याणुव्रत है।

जिसका कोई स्वामी न हो ऐसी मिट्टी और जल को छोड़कर और कोई भी पदार्थ उसके लौकिक स्वामी की अनुमति बिना ग्रहण करने का भाव नही होना अचौर्याणुव्रत है। धर्मानुकूल विवाहित स्वपत्नी अथवा स्वपति को छोड-कर अन्य मे रति-भाव का न होना ही ब्रह्मचर्याणुव्रत है। इसी प्रकार अति आवश्यक सामग्री को मर्यादापूर्वक रखकर और समस्त परिग्रह को रखने और रखने के भाव का त्याग कर देना ही परिग्रहपरिमाण-अणुव्रत है।

उक्त पाँचो व्रतो को ही पचाणुव्रत कहते हैं। उक्त पचाणुव्रतो के साथ ही श्रावक के सप्तशीलव्रत भी कहे गए हैं। जिनमे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। उनकी भी स्थिति यही है। जब तक कोई गृहस्थ है, तब तक तत्सम्बन्धी व्यवहार व्यापारादि भी सम्भव हैं, किन्तु उसकी भावना निरन्तर उनसे मुक्त होने की रहती है। उक्त भावना की सिद्धि हेतु वह अपनी बाह्य परिणति को और भी सीमित करता है। वह मर्यादा मे मर्यादा बनाता चला जाता है। उक्त प्रक्रिया को ही गुणव्रत कहते हैं जो

तीन प्रकार के होते हैं :-(१) दिग्व्रत (२) देशव्रत (३) अनर्थदण्डव्रत ।

कषायांश कम हो जाने के कारण अपने जीवन को नियमित करने के आकांक्षी ज्ञानी श्रावक का जीवन भर के लिए दशों दिशाओ के प्रसिद्ध स्थानो के आधार पर सीमा निश्चित कर लेना और जीवन-पर्यन्त उस सीमा के बाहर नही जाना ही दिग्व्रत है; तथा दिग्व्रत की हुई सीमा मे घडी-घण्टा, दिन, सप्ताह, माह, वर्षादि काल की सीमापूर्वक (दिग्व्रत मे की हुई विशाल क्षेत्र सम्बन्धी सीमा मे) और भी कमी कर लेना ही देशव्रत है – जैसे मैं एक वर्ष तक राजस्थान के, एक माह तक जयपुर के, एक दिन तक अपने मकान या मन्दिर के बाहर नही जाऊंगा ।

बिना प्रयोजन हिंसादि पापो मे प्रवृत्ति करने को अनर्थदण्ड कहते हैं और उस प्रवृत्ति के त्यागरूप भाव को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं ।

इस प्रकार उक्त तीन गुणव्रत अणुव्रतो की अभिवृद्धि मे सहायक हैं ।

आत्म-स्वभाव की स्थिरता प्राप्ति हेतु शिक्षार्थ शिक्षाव्रत हैं जो चार प्रकार के है :-(१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) भोगोपभोग परिमाणव्रत (४) अतिथिसंविभाग ।

सम्पूर्ण द्रव्यों मे राग-द्वेष छोडकर समत्व भाव का आलम्बन करके आत्म तत्त्व की प्राप्ति करना ही सामायिक है । समय शब्द का अर्थ यहा आत्मा है, अतः आत्मलीनता

का नाम ही सामायिक है। ज्ञानी श्रावक आत्मज्ञानी एवं आत्मरुचि वाला होने से दिन मे प्रात', दोपहर और सायं को करीव एक घण्टे आत्म चिन्तन अवश्य करता है। इसे ही सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

आत्म-स्वभाव के समीप ठहरना यानी आत्मलीनता ही वास्तविक उपवास (उप=समीप, वास=ठहरना) है। इसे निपेधात्मक विधि से यो भी कह सकते है कि कषाय, विपय और आहार के त्याग का नाम उपवास है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को सर्वारंभ छोड़ कर उपवास करना ही प्रोपधोपवास कहलाता है।

प्रयोजनभूत सीमित परिग्रह के भीतर भी कपाय कम करके भोग और उपभोग सामग्री का परिमाण (मात्रा) घटाना भोगोपभोग परिमाणव्रत है।

पचेन्द्रिय के विपय मे जो एक वार भोगने मे आवे उसे भोग और जो वार-वार भोगने मे आवे उसे उपभोग कहते हैं।

मुनि, व्रतीश्रावक व अव्रतीश्रावक इन तीन प्रकार के पात्रों को अपने लिए वनाए गए पवित्र भोजन मे से विभाग करके विधिपूर्वक दान देना अतिथि सविभागव्रत है।

उक्त १२ व्रतो को निरतिचार पालन करने वाला ही व्रतीश्रावक कहलाता है।

उक्त व्रतो मे आस्था होने पर तथा इनके पालन मे प्रयत्नशील रहने पर भी जो इन्हे निरतिचार (निर्दोष) पालन नही कर पाते हैं, उन्हे अव्रतीश्रावक कहते हैं।

तीन प्रकार के होते है :– (१) दिग्व्रत (२) देशव्रत (३) अनर्थदण्डव्रत।

कषायांश कम हो जाने के कारण अपने जीवन को नियमित करने के आकांक्षी ज्ञानी श्रावक का जीवन भर के लिए दशो दिशाओ के प्रसिद्ध स्थानो के आधार पर सीमा निश्चित कर लेना और जीवन-पर्यन्त उस सीमा के बाहर नही जाना ही दिग्व्रत है, तथा दिग्व्रत की हुई सीमा मे घडी-घण्टा, दिन, सप्ताह, माह, वर्षादि काल की सीमापूर्वक (दिग्व्रत में की हुई विशाल क्षेत्र सम्बन्धी सीमा मे) और भी कमी कर लेना ही देशव्रत है – जैसे मैं एक वर्ष तक राजस्थान के, एक माह तक जयपुर के, एक दिन तक अपने मकान या मन्दिर के बाहर नही जाऊंगा।

बिना प्रयोजन हिंसादि पापो मे प्रवृत्ति करने को अनर्थदण्ड कहते है और उस प्रवृत्ति के त्यागरूप भाव को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

इस प्रकार उक्त तीन गुणव्रत अणुव्रतो की अभिवृद्धि मे सहायक हैं।

आत्म-स्वभाव की स्थिरता प्राप्ति हेतु शिक्षारूप शिक्षाव्रत हैं जो चार प्रकार के है :– (१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) भोगोपभोग परिमाणव्रत (४) अतिथिसंविभाग।

सम्पूर्ण द्रव्यो मे राग-द्वेष छोड़कर समत्व भाव का आलम्बन करके आत्म तत्त्व की प्राप्ति करना ही सामायिक है। समय शब्द का अर्थ यहा आत्मा है, अत आत्मलीनता

का नाम ही सामायिक है। ज्ञानी श्रावक आत्मज्ञानी एव आत्मरुचि वाला होने से दिन मे प्रातः, दोपहर और साय को करीब एक घण्टे आत्म चिन्तन अवश्य करता है। इसे ही सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

आत्म-स्वभाव के समीप ठहरना यानी आत्मलीनता ही वास्तविक उपवास (उप=समीप, वास=ठहरना) है। इसे निषेधात्मक विधि से यो भी कह सकते हैं कि कषाय, विषय और आहार के त्याग का नाम उपवास है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को सर्वारंभ छोड कर उपवास करना ही प्रोषधोपवास कहलाता है।

प्रयोजनभूत सीमित परिग्रह के भीतर भी कषाय कम करके भोग और उपभोग सामग्री का परिमाण (मात्रा) घटाना भोगोपभोग परिमाणव्रत है।

पचेन्द्रिय के विषय मे जो एक वार भोगने मे आवे उसे भोग और जो वार-वार भोगने मे आवे उसे उपभोग कहते है।

मुनि, व्रतीश्रावक व अव्रतीश्रावक इन तीन प्रकार के पात्रो को अपने लिए वनाए गए पवित्र भोजन मे से विभाग करके विधिपूर्वक दान देना अतिथि सविभागव्रत है।

उक्त १२ व्रतो को निरतिचार पालन करने वाला ही व्रतीश्रावक कहलाता है।

उक्त व्रतो मे आस्था होने पर तथा इनके पालन मे प्रयत्नशील रहने पर भी जो उन्हें निरतिचार (निर्दोष) पालन नही कर पाते हैं, उन्हे अव्रतीश्रावक कहते है।

ज्ञानीश्रावक की स्थिति अस्थाई युद्धविराम जैसी स्थिति है। उसके अन्तर मे निरन्तर राग और विराग का एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। उसमे राग के प्रबल होते ही वह अपनी मर्यादाओ का उल्लघन करने लगता है और विराग पक्ष के सबल होने की स्थिति मे भोगो का सर्वथा त्यागी मुनि बन जाता है।

इस तरह देखा जाय तो श्रावक की स्थिति न तो भोगी की ही है और न वह पूर्णत त्यागी ही है। वह भोग और त्याग की विचित्र अन्तर्भूमिका मे विचरण करने वाला साधक आत्मा है।

"बंधन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से, दीनता-हीनता का विकास होता है। अबंध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है, पुरुषार्थ सहज जागृत होता है—पुरुषार्थ की जागृति मे बंधन कहाँ?"

भगवान् महावीर

भगवान महावीर का जीवन अब पुराणो की गाथा मात्र नही रहा, उन्हे अब इतिहासकारो ने ऐतिहासिक महापुरुष के रूप मे स्वीकार कर लिया है। महात्मा गांधी ने उन्हे "अहिंसा के अवतार" के रूप मे याद किया है।

जैन मान्यतानुसार भगवान अनन्त होते हैं। प्रत्येक आत्मा भगवान बन सकता है, पर तीर्थंकर एक युग मे व भरत क्षेत्र मे चौबीस ही होते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर, भगवान तो नियम से होते है; पर प्रत्येक भगवान तीर्थंकर नही। तीर्थंकर हुए बिना भी भगवान हो सकते है।

जिससे ससार-सागर तिरा जाय उसे तीर्थ कहते है और जो ऐसे तीर्थ को करे अर्थात् ससार-सागर से पार उतरे तथा उतरने का मार्ग बतावें, उन्हे तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थंकर भगवान महावीर भरतक्षेत्र व इस युग के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व ऋषभदेव आदि २३ तीर्थंकर और हो चुके थे।

भगवान जन्मते नही, बनते हैं। जन्म से कोई भगवान नही होता। महावीर भी जन्म से भगवान नही थे। भगवान तो वे तब बने जब उन्होने अपने को जीता। मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है।

ज्ञानीश्रावक की स्थिति अस्थाई युद्धविराम जैसी स्थिति है। उसके अन्तर मे निरन्तर राग और विराग का एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। उसमे राग के प्रबल होते ही वह अपनी मर्यादाओ का उल्लघन करने लगता है और विराग पक्ष के सबल होने की स्थिति मे भोगो का सर्वथा त्यागी मुनि बन जाता है।

इस तरह देखा जाय तो श्रावक की स्थिति न तो भोगी की ही है और न वह पूर्णतः त्यागी ही है। वह भोग और त्याग की विचित्र अन्तर्भूमिका मे विचरण करने वाला साधक आत्मा है।

"बधन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से, दीनता-हीनता का विकास होता है। अबध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है, पुरुषार्थ सहज जागृत होता है—पुरुषार्थ की जागृति मे बधन कहाँ ?"

भगवान महावीर

भगवान महावीर का जीवन अब पुराणो की गाथा मात्र नही रहा, उन्हे अब इतिहासकारो ने ऐतिहासिक महापुरुष के रूप मे स्वीकार कर लिया है। महात्मा गाधी ने उन्हे "अहिंसा के अवतार" के रूप मे याद किया है।

जैन मान्यतानुसार भगवान अनन्त होते हैं। प्रत्येक आत्मा भगवान वन सकता है, पर तीर्थंकर एक युग मे व भरत क्षेत्र मे चौवीस ही होते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर, भगवान तो नियम से होते है; पर प्रत्येक भगवान तीर्थंकर नही। तीर्थंकर हुए विना भी भगवान हो सकते है।

जिससे ससार-सागर तिरा जाय उसे तीर्थ कहते हैं और जो ऐसे तीर्थ को करें अर्थात् ससार-सागर से पार उतरें तथा उतरने का मार्ग वतावे, उन्हे तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थंकर भगवान महावीर भरतक्षेत्र व इस युग के चौवीसवें एव अन्तिम तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व ऋषभदेव आदि २३ तीर्थंकर और हो चुके थे।

भगवान जन्मते नही, वनते हैं। जन्म से कोई भगवान नही होता। महावीर भी जन्म से भगवान नही थे। भगवान तो वे तव वने जव उन्होने अपने को जीता। मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जितने गूढ, गम्भीर व ग्राह्य हैं; उनका जीवन उतना ही सादा, सरल एव सपाट है। उसमे विविधताओ को कोई स्थान प्राप्त नही। उनकी जीवनगाथा मात्र इतनी ही है कि वे आरम्भ के तीस वर्षो मे वैभव और विलास के बीच जल से भिन्न कमलवत् रहे। बीच के बारह वर्षो मे जगल मे परम मगल की साधना मे एकान्त आत्मआराधना-रत रहे और अन्तिम ३० वर्षो मे प्राणीमात्र के कल्याण के लिए सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन, प्रचार व प्रसार करते रहे।

महावीर का वर्त्तमान जीवन घटना-बहुल नही है। घटनाओ मे उनके व्यक्तित्व को खोजना भी व्यर्थ है। ऐसी कौनसी लौकिक घटना शेष है जो उनके अनन्त पूर्व-भवो मे उनके साथ न घटी हो। यदि घटनाएँ ही देखना है तो उनके पूर्व भवो मे देखे।

महावीर का जन्म वैशाली गणतन्त्र के प्रसिद्ध राजनेता लिच्छवि राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के उदर मे कुडग्राम मे हुआ था। उनकी माँ वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष राजा चेटक की पुत्री थी। वे आज से २५७२ वर्ष पूर्व (५६६ ई० पूर्व) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन नाथ (ज्ञातृ) वशीय क्षत्रियकुल मे जन्मे थे। उनके माता-पिता ने उनको नित्य-वृद्धिगत होते देख उनका नाम वर्द्धमान रखा।

बालक वर्द्धमान जन्म से ही स्वस्थ, सुन्दर एव आकर्षक व्यक्तित्व के धनी थे। वे दोज के चद्र की भाति वृद्धिगत होते हुए अपने वर्द्धमान नाम को सार्थक करने लगे। उनकी कचनवर्णी काया अपनी कान्ति से सबको

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जितने गूढ, गम्भीर व ग्राह्य है; उनका जीवन उतना ही सादा, सरल एवं सपाट है। उसमे विविधताओ को कोई स्थान प्राप्त नही। उनकी जीवनगाथा मात्र इतनी ही है कि वे आरम्भ के तीस वर्षों मे वैभव और विलास के बीच जल से भिन्न कमलवत् रहे। बीच के बारह वर्षो मे जगल मे परम मगल की साधना मे एकान्त आत्मआराधना-रत रहे और अन्तिम ३० वर्षो मे प्राणीमात्र के कल्याण के लिए सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन, प्रचार व प्रसार करते रहे।

महावीर का वर्त्तमान जीवन घटना-बहुल नही है। घटनाओ मे उनके व्यक्तित्व को खोजना भी व्यर्थ है। ऐसी कौनसी लौकिक घटना शेष है जो उनके अनन्त पूर्व-भवो मे उनके साथ न घटी हो। यदि घटनाएँ ही देखना है तो उनके पूर्व भवो मे देखे।

महावीर का जन्म वैशाली गणतन्त्र के प्रसिद्ध राजनेता लिच्छवि राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के उदर से कुडग्राम मे हुआ था। उनकी मां वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष राजा चेटक की पुत्री थी। वे आज से २५७२ वर्ष पूर्व (५९९ ई० पूर्व) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन नाथ (ज्ञातृ) वशीय क्षत्रियकुल मे जन्मे थे। उनके माता-पिता ने उनको नित्य-वृद्धिगत होते देख उनका नाम वर्द्धमान रखा।

बालक वर्द्धमान जन्म से ही स्वस्थ, सुन्दर एवं आकर्षक व्यक्तित्व के धनी थे। वे दोज के चद्र की भांति वृद्धिगत होते हुए अपने वर्द्धमान नाम को सार्थक करने लगे। उनकी कंचनवर्णी काया अपनी कांति से सबको

आह्लादित करती थी। उनके रूप-सौन्दर्य का पान करने के लिए सुरपति (इन्द्र) ने हजार नेत्र बनाये थे।

वे आत्मज्ञानी, विचारवान, विवेकी और निर्भीक बालक थे। डरना तो उन्होंने सीखा ही न था। वे साहस के पुतले थे। अत उन्हें बचपन से ही वीर, अतिवीर कहा जाने लगा। उनके पाँच नाम प्रसिद्ध हैं – वीर, अतिवीर, सन्मति, वर्द्धमान और महावीर।

वे प्रत्युत्पन्नमति थे और विपत्तियो मे अपना सन्तुलन नही खोते थे। एक दिन बालक वर्द्धमान अन्य राजकुमारो के साथ क्रीड़ावन मे खेल रहे थे। इतने मे ही एक भयंकर काला सर्प आया और क्रोधावेश मे वीरो को भी कपित कर देने वाली फुकार करने लगा। अपने को विषम स्थिति मे पाकर अन्य बालक तो भय से कापने लगे पर घोर-वीर बालक वर्द्धमान को वह भयकर नागराज विचलित न कर सका। महावीर को अपनी ओर निर्भय और नि.शक आता देख नागराज निर्मद होकर स्वय अपने रास्ते चलता बना।

इसी प्रकार एक बार एक हाथी मदोन्मत्त हो गया और गजशाला के स्तम्भ को तोड़कर नगर मे विप्लव मचाने लगा। सारे नगर मे खलबली मच गई। सभी लोग घबराकर इधर-उधर भागने लगे, पर राजकुमार वर्द्धमान ने अपना धैर्य नही खोया तथा शक्ति और युक्ति से शीघ्र ही गजराज पर काबू पा लिया। राजकुमार वर्द्धमान की वीरता व धैर्य की चर्चा नगर में सर्वत्र होने लगी।

वे प्रतिभासम्पन्न राजकुमार थे। बडी-बड़ी समस्याओ का समाधान चुटकियो मे कर दिया करते थे। वे शान्त प्रकृति के तो थे ही, युवावस्था मे प्रवेश करते ही उनकी गम्भीरता और बढ गई, वे अत्यन्त एकान्तप्रिय हो गये। वे निरन्तर चिन्तवन मे ही लगे रहते थे और गूढ तत्वचर्चाएँ किया करते थे। तत्व-सम्बन्धी बडी से बडी शकाएँ तत्व-जिज्ञासु उनसे करते थे और बातो ही बातो मे वे उनका समाधान कर देते थे।

बहुत-सी शकाओ का समाधान तो उनकी सौम्य आकृति ही कर देती थी। बडे-बडे ऋषिगणो की शकाएँ भी उनके दर्शन मात्र से ही शात हो जाती थी। वे शकाओ का समाधान न करते थे वरन् स्वय समाधान थे।

एक दिन उनके बाल-साथी उन्हे खोजते हुए आये और उन्हे चौथी मजिल पर विचारमग्न बैठे पाया। सभी साथियो ने उलाहने के स्वर मे कहा, "तुम यहाँ छिपे-छिपे दार्शनिको की सी मुद्रा मे बैठे हो और हमने सातो मजिले छान डाली।" "माँ से क्यो नही पूछा?", वर्द्धमान ने सहज प्रश्न किया। साथी बोले, "पूछने से ही तो सब कुछ गडबड हुआ, माँ कहती है 'ऊपर' और पिताजी 'नीचे'। कहाँ खोजे? कौन सत्य है?" वर्द्धमान ने कहा "दोनो सत्य है, मै चौथी मजिल पर होने से माँ की अपेक्षा 'ऊपर' और पिताजी की अपेक्षा 'नीचे' हूँ, क्योकि माँ पहली मजिल पर और पिताजी सातवी मजिल पर है। इतना भी नही समझते? ऊपर-नीचे की स्थिति सापेक्ष है।

बिना अपेक्षा ऊपर-नीचे का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तु की स्थिति पर से निरपेक्ष होने पर भी उसका कथन सापेक्ष होता है।" इस प्रकार बालक वर्द्धमान स्याद्वाद जैसे गहन सिद्धान्तों को बालकों को भी सहज समझा देते थे।

दुनियाँ ने उन्हें अपने रंग में रंगना चाहा पर आत्मा के रंग में सर्वांग सराबोर महावीर पर दुनियाँ का रंग न चढ़ा। यौवन ने अपने प्रलोभनों के पासे फेंके किन्तु उसके भी दाव खाली गये। माता-पिता की ममता ने उन्हें रोकना चाहा पर माँ के आंसुओं की बाढ़ भी उन्हें बहा न सकी।

उनके रूप-सौन्दर्य एवं बल-विक्रम से प्रभावित हो अनेक राजागण अपनी अप्सराओं के सौन्दर्य को लज्जित कर देने वाली कन्याओं की शादी उनसे करने के प्रस्ताव लेकर आये। पर अनेक राजकन्याओं के हृदय में वास करने वाले महावीर का मन उन कन्याओं में न था। माता-पिता ने भी उनसे शादी करने का बहुत आग्रह किया, पर वे तो इन्द्रिय-निग्रह का निश्चय कर चुके थे। चारों ओर से उन्हें गृहस्थी के बन्धन में बांधने के अनेक यत्न किए गए, पर वे स्वतन्त्र-स्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर संसार के सर्व-बन्धनों से मुक्त होने का निश्चय कर चुके थे। जो मोह-बन्धन तोड़ चुका हो, उसे कौन बांध सकता है?

परिणामस्वरूप तीस वर्षीय भरे यौवन में मंगसिर कृष्णा दशमी के दिन उन्होंने घर-बार छोड़ा। नग्न दिगम्बर हो निर्जन वन में आत्म-साधनालीन हो गए। उनके तप

वे प्रतिभासम्पन्न राजकुमार थे। बडी-बडी समस्याओं का समाधान चुटकियो मे कर दिया करते थे। वे शान्त प्रकृति के तो थे ही, युवावस्था मे प्रवेश करते ही उनकी गम्भीरता और बढ गई, वे अत्यन्त एकान्तप्रिय हो गये। वे निरन्तर चिन्तवन मे ही लगे रहते थे और गूढ तत्वचर्चाएँ किया करते थे। तत्व-सम्बन्धी बडी से बडी शकाएँ तत्व-जिज्ञासु उनसे करते थे और बातो ही बातो मे वे उनका समाधान कर देते थे।

बहुत-सी शकाओ का समाधान तो उनकी सौम्य आकृति ही कर देती थी। बडे-बडे ऋषिगणो की शकाएँ भी उनके दर्शन मात्र से ही शात हो जाती थी। वे शकाओ का समाधान न करते थे वरन् स्वय समाधान थे।

एक दिन उनके बाल-साथी उन्हे खोजते हुए आये और उन्हे चौथी मजिल पर विचारमग्न बैठे पाया। सभी साथियो ने उलाहने के स्वर मे कहा, "तुम यहाँ छिपे-छिपे दार्शनिको की सी मुद्रा मे बैठे हो और हमने सारी मजिले छान डाली।" "माँ से क्यो नही पूछा ?", वर्द्धमान ने सहज प्रश्न किया। साथी बोले, "पूछने से ही तो सब कुछ गडबड हुआ, माँ कहती है 'ऊपर' और पिताजी 'नीचे'। कहाँ खोजे ? कौन सत्य है ?" वर्द्धमान ने कहा "दोनों सत्य हैं, मैं चौथी मजिल पर होने से माँ की अपेक्षा 'ऊपर' और पिताजी की अपेक्षा 'नीचे' हूँ, क्योंकि माँ पहली मजिल पर और पिताजी सातवी मजिल पर हैं। इतना भी नही समझते ? ऊपर-नीचे की स्थिति सापेक्ष है।

बिना अपेक्षा ऊपर-नीचे का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तु की स्थिति पर से निरपेक्ष होने पर भी उसका कथन सापेक्ष होता है।" इस प्रकार बालक वर्द्धमान स्याद्वाद जैसे गहन सिद्धान्तो को बालको को भी सहज समझा देते थे।

दुनियाँ ने उन्हे अपने रग मे रगना चाहा पर आत्मा के रग मे सर्वांग सराबोर महावीर पर दुनियाँ का रग न चढा। यौवन ने अपने प्रलोभनो के पासे फेंके किन्तु उसके भी दाव खाली गये। माता-पिता की ममता ने उन्हे रोकना चाहा पर माँ के आसुओ की बाढ भी उन्हे बहा न सकी।

उनके रूप-सौन्दर्य एव बल-विक्रम से प्रभावित हो अनेक राजागण अपनी अप्सराओं के सौन्दर्य को लज्जित कर देने वाली कन्याओ की शादी उनसे करने के प्रस्ताव लेकर आये। पर अनेक राजकन्याओ के हृदय मे वास करने वाले महावीर का मन उन कन्याओ मे न था। माता-पिता ने भी उनसे शादी करने का बहुत आग्रह किया, पर वे तो इन्द्रिय निग्रह का निश्चय कर चुके थे। चारो ओर से उन्हे गृहस्थी के बन्धन मे बाधने के अनेक यत्न किए गए, पर वे स्वतन्त्र-स्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर संसार के सर्व-बन्धनो से मुक्त होने का निश्चय कर चुके थे। जो मोह-बन्धन तोड चुका हो, उसे कौन बाँध सकता है?

परिणामस्वरूप तीस वर्षीय भरे यौवन मे मगसिर कृष्ण दसमी के दिन उन्होने घर-बार छोडा। नग्न दिगम्बर हो निर्जन वन मे आत्म-साधनारत हो गए। उनके नाग

(दीक्षा) कल्याण के शुभ प्रसंग पर लौकान्तिक देवो ने आकर विनयपूर्वक उनके इस कार्य की भक्तिपूर्वक प्रशसा की ।

मुनिराज वर्द्धमान मौन रहते थे, किसी से बातचीत नही करते थे । निरन्तर आत्म-चिन्तन मे ही लगे रहते थे । यहाँ तक कि स्नान और दन्तधोवन के विकल्प से भी परे थे । शत्रु और मित्र मे समभाव रखने वाले मुनिराज महावीर गिरि-कन्दराओ मे वास करते थे । शीत, ग्रीष्म, वर्षादि ऋतुओ के प्रचड वेग से वे तनिक भी विचलित न होते थे ।

उनकी सौम्य-मूर्ति, स्वाभाविक सरलता, अहिंसामय जीवन एव शान्त स्वभाव को देखकर बहुधा वन्य पशु स्वभावगत वैर-विरोध छोड़कर साम्यभाव धारण करते थे । अहि-नकुल तथा गाय और शेर एक घाट पानी पीते थे । जहाँ वे ठहरते, वातावरण सहज शान्तिमय हो जाता था ।

कभी कदाचित भोजन का विकल्प उठता तो अनेक अटपटी प्रतिज्ञाये लेकर वे भोजन के लिए समीपस्थ नगर की ओर आते । यदि कोई श्रावक उनकी प्रतिज्ञाओ के अनुरूप शुद्ध सात्विक आहार नवधा भक्तिपूर्वक देता तो अत्यन्त सावधानीपूर्वक खडे-खडे निरीह भाव से ग्रहण कर शीघ्र वन को वापिस चले जाते थे । मुनिराज महावीर का आहार एक बार अति विपन्नावस्था को प्राप्त सती चदनबाला के हाथ से भी हुआ था ।

इस प्रकार अनवरत घोर तपश्चरण करते बारह वर्ष बीत गए । ४२ वर्ष की अवस्था मे वैशाख शुक्ला दशमी के दिन आत्म निमग्नता की दिशा मे उन्होंने अन्तर मे

(दीक्षा) कल्याण के शुभ प्रसग पर लौकान्तिक देवो ने आकर विनयपूर्वक उनके इस कार्य की भक्तिपूर्वक प्रशसा की।

मुनिराज वर्द्धमान मौन रहते थे, किसी से बातचीत नही करते थे। निरन्तर आत्म-चिन्तन मे ही लगे रहते थे। यहाँ तक कि स्नान और दन्तधोवन के विकल्प से भी परे थे। शत्रु और मित्र मे समभाव रखने वाले मुनिराज महावीर गिरि-कन्दराओ मे वास करते थे। शीत, ग्रीष्म, वर्षादि ऋतुओ के प्रचड वेग से वे तनिक भी विचलित न होते थे।

उनकी सौम्य-मूर्ति, स्वाभाविक सरलता, अहिंसामय जीवन एव शान्त स्वभाव को देखकर बहुधा वन्य पशु स्वभावगत वैर-विरोध छोड़कर साम्यभाव धारण करते थे। अहि-नकुल तथा गाय और शेर एक घाट पानी पीते थे। जहा वे ठहरते, वातावरण सहज शान्तिमय हो जाता था।

कभी कदाचित भोजन का विकल्प उठता तो अनेक अटपटी प्रतिज्ञाये लेकर वे भोजन के लिए समीपस्थ नगर की ओर आते। यदि कोई श्रावक उनकी प्रतिज्ञाओ के अनुरूप शुद्ध सात्विक आहार नवधा भक्तिपूर्वक देता तो अत्यन्त सावधानीपूर्वक खड़े-खड़े निरीह भाव से ग्रहण कर शीघ्र वन को वापिस चले जाते थे। मुनिराज महावीर का आहार एक बार अति विपन्नावस्था को प्राप्त सती चदनबाला के हाथ से भी हुआ था।

इस प्रकार अनवरत घोर तपश्चरण करते बारह वर्ष बीत गए। ४२ वर्ष की अवस्था मे वैशाख शुक्ला दशमी के दिन आत्म निमग्नता की दिशा मे उन्होंने अन्तर मे

गौतम स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुधर्म स्वामी आदि और भी उनके गणधर थे। श्रावक शिष्यों में मगध सम्राट महाराजा श्रेणिक (बिम्बसार) प्रमुख थे।

लगातार तीस वर्ष तक सारे भारतवर्ष में उनका विहार होता रहा। उनका उपदेश जन-भाषा में होता था। उनके उपदेश को दिव्य-ध्वनि कहा जाता है। उन्होंने अपनी दिव्यवाणी में पूर्ण रूप से आत्मा की स्वतन्त्रता की घोषणा की। उनका कहना था कि प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है। पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने का मार्ग स्वावलम्बन है। अपने बल पर ही स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है। अनन्त सुख और स्वतन्त्रता भीग में प्राप्त होने वाली वस्तुएँ नहीं है और न उन्हे दूसरों के बल पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

सब आत्माएं स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं, पर वे एक-सी अवश्य है, बराबर है, कोई छोटी-बड़ी नहीं। अतः उन्होंने कहा :—

१. अपने समान दूसरी आत्माओं को जानो।
२. सब आत्माएं समान हैं पर एक नहीं।
३. यदि सही दिशा में पुरुषार्थ किया जाय तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है।
४. प्रत्येक प्राणी अपनी भूल से स्वयं दुःखी है और अपनी भूल सुधार कर सुखी भी हो सकता है।
५. भगवान जगत के तटस्थ ज्ञाता दृष्टा होते हैं, कर्ता-धर्ता नहीं।

गौतम स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुधर्म स्वामी आदि और भी उनके गणधर थे। श्रावक शिष्यो मे मगध सम्राट महाराजा श्रेणिक (बिम्बसार) प्रमुख थे।

लगातार तीस वर्ष तक सारे भारतवर्ष मे उनका विहार होता रहा। उनका उपदेश जन-भाषा मे होता था। उनके उपदेश को दिव्य-ध्वनि कहा जाता है। उन्होने अपनी दिव्यवाणी मे पूर्ण रूप से आत्मा की स्वतन्त्रता की घोषणा की। उनका कहना था कि प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नही है। पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने का मार्ग स्वावलम्बन है। अपने बल पर ही स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है। अनन्त सुख और स्वतन्त्रता भीख मे प्राप्त होने वाली वस्तुएँ नही है और न उन्हे दूसरो के बल पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

सब आत्माएं स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न है, एक नही, पर वे एक-सी अवश्य है, बराबर है, कोई छोटी-बडी नही। अत उन्होने कहा :—

१. अपने समान दूसरी आत्माओ को जानो।
२. सब आत्माएं समान है पर एक नही।
३. यदि सही दिशा मे पुरुषार्थ किया जाय तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है।
४. प्रत्येक प्राणी अपनी भूल से स्वयं दुःखी है और अपनी भूल सुधार कर सुखी भी हो सकता है।
५. भगवान जगत के तटस्थ ज्ञाता दृष्टा होते है, कर्ता-धर्ता नही।

अन्त में ७२ वर्ष की आयु में दीपावली के दिन इस युग में अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने भौतिक देह को त्याग कर निर्वाण प्राप्त किया। उसी दिन उनके प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गौतम को पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हुई।

जैन मान्यतानुसार दीपावली महापर्व भगवान महावीर के निर्वाण एवं उनके प्रमुख शिष्य गौतम को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के उपलक्ष्य में मनाया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर का जीवन आत्मा से परमात्मा बनने के क्रमिक विकास की कहानी है।

[illegible]

भगवान महावीर और उनकी उपासना

जो पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ पद को प्राप्त करता है, वह भगवान (परमात्मा) कहलाता है। अरहत और सिद्ध ही ऐसे पद हैं अतः उक्त पदो को प्राप्त पुरुष ही परमात्मा (भगवान) शब्द से अभिहित किये जाते हैं। अरहंतो मे तीर्थंकर अरहत और सामान्य अरहन्त ऐसे दो प्रकार होते हैं। वर्तमान काल मे धर्मतीर्थ के प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकरो मे अन्तिम तीर्थंकर अरहत भगवान महावीर थे।

भगवान महावीर के अनुसार परमात्मा पर का कर्त्ता-धर्ता न होकर मात्र ज्ञाता-दृष्टा होता है तथा परमात्मा के उपासक (भक्त) की दृष्टि (मान्यता) मे पर मे कर्तृत्व बुद्धि नही होती। जब तक पर मे फेरफार करने की बुद्धि (रुचि) रहेगी तब तक उसकी दृष्टि को सम्यक् दृष्टि नही कहा जा सकता है।

वीतरागी परमात्मा का उपासक (भक्त) भी वीतरागता का उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति वीतरागी भगवान महावीर का उपासक नही हो सकता। वह तो मात्र पर्व समारोह में ही महावीर की उपासना करता है, वस्तुत वह भगवान का उपासक न होकर भोगो का उपासक है।

वाला भी मान लिया जाय तो भी यह समझ मे नही आता कि अपनी अमुक मूर्ति की पूजा के माध्यम से ही वे कुछ देते हो, अन्य की पूजा के माध्यम मे नही । यदि यह कहा जाय कि वे तो कुछ नही देते पर उनके उपासक को सहज ही पुण्य बंध होता है तो क्या अमुक मूर्ति के सामने पूजा करने से या अमुक मन्दिर में घृतादिक के दीपक रखने से ही पुण्य बंधेगा, अन्य मन्दिरो मे या अन्य मूर्तियो के सामने नही ?

उक्त प्रवृत्ति के कारण हमारी दृष्टि, मूर्ति के माध्यम से जिसकी पूजा की जाती है, उस महावीर से हटकर मात्र मूर्ति पर केन्द्रित हो गई है और हम यह भूलते जा रहे हैं कि वस्तुत हम मूर्ति के नही, मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान (वीतरागी सर्वज्ञ भगवान) के पुजारी हैं ।

यह सब क्यो और कैसे हुआ ? यह एक विचारणीय प्रश्न है । जब ज्ञान की अपेक्षा क्रियाकाण्ड को मुख्यता दी जाने लगती है तब इस प्रकार की प्रक्रिया उत्पन्न होने लगती है । यही कारण है कि भगवान महावीर ने चारित्र को सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही कहा है । अज्ञानपूर्वक की गई कोई भी प्रक्रिया धर्म नही कहला सकती है । कहा भी है –

बहुविध क्रिया कलेश सो, शिव पद लहे न कोय ।
ज्ञान कला परकाश तें, सहज मोक्ष पद होय ॥

× × ×

बने गुन जो दीजिये, पय अरु नहीं होय ।
त्यों क्रिया बिन ज्ञान के, थोथी जानो सोय ॥

भगवान को सही रूप से पहिचाने बिना उनकी उपासना सही अर्थों में नहीं की जा सकती है । अत सबसे पहिले

होता है और तदनुकूल सुख (भोग) सामग्री भी प्राप्त होती है पर भगवान महावीर के उपासक की दृष्टि मे उसका कोई मूल्य नही तथा विषयाभिलाषा से की गई भगवान की भक्ति राग की तीव्रता और भोगो की अभिलाषा से युक्त होने से पुण्य बध का कारण भी नही होती, क्योकि भोगाभिलाषा एव रागभाव तो पापभाव है।

उक्त सम्पूर्ण बात कहने मे मेरा अभिप्राय यह नही है कि आप भगवान महावीर की उपासना करना ही छोड दे, बल्कि मै चाहता हूँ कि आप भगवान महावीर के सच्चे अर्थों मे उपासक बने, उनके स्वरूप को समझे व उनकी उपासना के हेतु को समझकर सही रूप दे, वीतरागता और आत्मज्ञान की पूर्णता ही हमारा प्राप्तव्य बने, तभी हम वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान महावीर के सच्चे उपासक कहलाने के अधिकारी होगे।

"जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतराग रह सके अथवा पूर्ण रूप से अप्रभावित रह कर जान सके, वही भगवान है।"

जीवन मे सफलतापूर्वक न उतर सकें, जिनका सफल प्रयोग दैनिक जीवन मे सभव न हो, वे आदर्श कल्पनालोक के सुनहरे स्वप्न तो हो सकते हैं, किन्तु जीवन मे उनकी उपयोगिता और उपादेयता सदिग्ध ही रहेगी ।

व्यावहारिक जीवन की कसौटी पर जब हम तीर्थंकर भगवान महावीर के आदर्शों को कसते है तो वे पूर्णत. खरे उतरते है । हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि उनके आदर्श कल्पनालोक की ऊची उडानें नही, वे ठोस धरातल पर प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त है और उनका पालन व्यावहारिक जीवन मे मात्र सम्भव ही नही, वे जीवन को सुखी, शान्त और समृद्ध बनाने के लिए पूर्ण सफल एवम् सहज साधन हैं ।

जीवन को पवित्र, सच्चरित्र एवम् सुखी बनाने के लिए तीर्थंकर महावीर ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये पाच महान् आदर्श लोक के सामने रखे ।

व्यावहारिक जीवन मे इनके सफल प्रयोग के लिए उन्होने इन्हे साधु और सामान्यजनो (श्रावको) को लक्ष्य मे रखकर महाव्रत और अणुव्रत के रूप मे प्रस्तुत किया । उक्त आदर्शों को पूर्ण रूप मे जीवन मे उतारने वाले साधु एव शक्ति व योग्यतानुसार धारण करने वाले श्रावक कहलाते हैं । शक्ति और योग्यता के वैविध्य को लक्ष्य मे रखकर श्रावको की ग्यारह दशाये निश्चित की है, जिन्हे ग्यारह प्रतिमाये कहा जाता है ।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित महान आदर्श – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह — —

व्यापार आदि कार्यो मे तथा गृहस्थी के आरम्भादि कार्यों मे सावधानी बरतते हुए भी जो हिंसा हो जाती है वह उद्योगी और आरम्भी हिंसा है। अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन, समाज-देशादि पर किये गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है।

उक्त चार प्रकार की हिंसाओं मे एक सकल्पी हिंसा का तो श्रावक सर्वथा त्यागी होता है, किन्तु बाकी तीन प्रकार की हिंसा उसके जीवन मे विद्यमान रहती है। यद्यपि वह उनसे भी बचने का पूरा-पूरा यत्न करता है, आरम्भ और उद्योग मे भी पूरी-पूरी सावधानी रखता है, तथापि उसका आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णरूपेण बच पाना सभव नही है। यद्यपि उक्त हिंसा उसके जीवन मे विद्यमान रहती है, तथापि वह उसे उपादेय नही मानता, विधेय भी नही मानता।

भगवान महावीर ने सदा ही अहिंसात्मक आचरण पर जोर दिया है। जैन आचरण छुआछूतमूलक न होकर जिसमे हिंसा न हो या कम से कम हिंसा हो, के आधार पर निश्चित किया गया है। पानी छानकर काम मे लेना, रात्रि में भोजन नही करना, मद्य-मांसादि का सेवन नही करना आदि समस्त आचरण अहिंसा को लक्ष्य मे रखकर अपनाए गए हैं।

भगवान महावीर ने अहिंसा को परमधर्म घोषित किया है। सामाजिक जीवन मे जितना [illegible] नही पनप सकती, इस अहिंसा के सामाजिक [illegible]

परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट,
स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा ।।
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददातिकिंचन ।
विचारयन्नेवमनन्य मानस,
परो ददातीति विमुच्य शेमुषी ।।

अतः सिद्ध है कि किसी द्रव्य मे पर का हस्तक्षेप नही चलता । हस्तक्षेप की भावना ही आक्रमण को प्रोत्साहित करती है । यदि हम अपने मन से पर मे हस्तक्षेप करने की भावना निकाल दे तो फिर हमारे मानस मे सहज ही अनाक्रमण का भाव जग जायगा ।

आक्रमण प्रत्याक्रमण को जन्म देता है, यह आक्रमण-प्रत्याक्रमण की स्थिति ऐसे युद्ध को प्रोत्साहित कर सकती है जिससे मात्र विश्वशान्ति ही खतरे मे न पड जाय, अपितु विश्वप्रलय की स्थिति उत्पन्न हो सकती है । अत विश्वशाति की कामना करने वालो को तीर्थंकर महावीर द्वारा बताये गये अहस्तक्षेप, अनाक्रमण और सहअस्तित्व के मार्ग पर चलना आवश्यक है, इसमे ही सबका हित निहित है ।

आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर के धर्मतीर्थ को सर्वोदय तीर्थ कहा है –

सर्वान्तवत् तद्गुण मुख्य कल्पम्,
सर्वान्तशून्य च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकर निरन्तम्,
सर्वोदय तीर्थमिद तवैव ।

ने उन्हे तीर्थंकर वनाया। उनका सर्वोदय तीर्थ आज भी उतना ही ग्राह्य, ताजा और प्रेरणास्पद है जितना उनके समय मे था। उनके तीर्थ मे न सकीर्णता थी और न मानवकृत सीमाये। जीवन की जिस धारा को वे मानव के लिए प्रवाहित करना चाहते थे, वही वस्तुत सनातन सत्य है।

धार्मिक जडता और आर्थिक अपव्यय रोकने के लिए महावीर ने क्रियाकाण्ड और यज्ञो का विरोध किया। आदमी को आदमी के निकट लाने के लिए वर्ण व्यवस्था को कर्म के आधार पर बताया। जीवन जीने के लिए अनेकान्त की भाव-भूमि, स्याद्वाद की भाषा और अणुव्रत का आचार व्यवहार दिया और मानव व्यक्तित्व के चरम विकास के लिए कहा कि ईश्वर तुम्ही हो, अपने आपको पहिचानो और ईश्वरीय गुणो का विकास कर ईश्वरत्व को पाओ।

तीर्थंकर महावीर ने जिस सर्वोदय तीर्थ का प्रणयन किया, उसके जिस धर्मतत्त्व को लोक के सामने रखा, उसमे न जाति की सीमा है, न क्षेत्र की और न काल की, न रग, वर्ण, लिग आदि की। धर्म मे सकीर्णता और सीमा नही होती। आत्मधर्म सभी आत्माओ के लिए है। धर्म को मात्र मानव से जोडना भी एक प्रकार की सकीर्णता है, वह तो प्राणी मात्र का धर्म है। "मानव धर्म" शब्द भी पूर्ण उदारता का सूचक नही है, वह भी धर्म के क्षेत्र को मानव समाज तक ही सीमित करता है, जबकि धर्म का सम्बन्ध समस्त प्राणी जगत से है क्योकि सभी प्राणी सुख और शान्ति से रहना चाहते हैं।

लेखक के अन्य प्रकाशन

१.	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१० ००
२	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	५ ००
	[हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड – पाकेट बुक सीरीज]	२ ००
३	अपने को पहचानिए [हिन्दी, गुजराती]	० ५०
४.	सर्वोदय तीर्थ	२ ००
५	अनेकान्त और स्याद्वाद	० ३५
६	तीर्थंकर भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, असमी, अंग्रेजी, तेलगु]	० ४०
७	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३ ००
८	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य	० ६५
९	अर्चना [पूजन संग्रह]	० ४०
१०	बालबोध पाठमाला भाग १ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	० ५०
११.	बालबोध पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	० ७०
१२	बालबोध पाठमाला भाग ३ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	० ७०
१३	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हिन्दी, गुजराती]	० ७०
१४	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती]	१ ००
१५	वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हिन्दी, गुजराती]	१ ००
१६	तत्वज्ञान पाठमाला भाग १	१.२५
१७	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१ २५
१८	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	० २५
१९	सत्य की खोज (कथानक)	(प्रेस में)

लेखक के अन्य प्रकाशन

क्र.	प्रकाशन	मूल्य
१.	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१० ००
२.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	५ ००
	[हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड – पाकेट बुक साइज]	२ ००
३	अपने को पहचानिए [हिन्दी, गुजराती]	० ५०
४.	सर्वोदय तीर्थ	२ ००
५	अनेकान्त और स्याद्वाद	० ३५
६	तीर्थंकर भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, असमी, अंग्रेजी, तेलगु]	० ४०
७	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३ ००
८	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य	० ६५
९	अर्चना [पूजन संग्रह]	० ४०
१०	बालबोध पाठमाला भाग १ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	० ५०
११.	बालबोध पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	० ७०
१२	बालबोध पाठमाला भाग ३ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	० ७०
१३	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हिन्दी, गुजराती]	० ७०
१४	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती]	१ ००
१५	वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हिन्दी, गुजराती]	१ ००
१६	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१ २५
१७	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१ २५
१८	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	० २५
१९	सत्य की खोज (कथानक)	(प्रेस में)